साठोत्तरी हिन्दी कविता की वस्तु चेतना

लेखक :
डॉ० बादामसिंह रावत
हिन्दी विभाग
म्यूनिसिपल आर्ट्स - कामर्स कालेज
महेसाना (उत्तर गुजरात)

गिरनार प्रकाशन
पिलाजी गंज, महेसाना - 384001

समर्पण

स्वर्गीय श्री बलराम जी क्षत्रिय को जिनकी
प्रेरणा कभी कुहासे को चीरकर आलोक
देती है तो कभी याद आँखों को
गीला कर जाती है ।

—रावत

निवेदन

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता का इतिहास अनेक उपलब्धियों से भरा है। इसमें भी 'साठोत्तरी हिन्दी कविता' विशेष चर्चित और उल्लेखनीय रही है। सातवें दशक की इस युवा-कविता में 'वस्तुगत' परिवर्तन और नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुतीकरण अपनी अलग पहचान रेखांकित करता है। अनेक काव्यान्दोलनों से गुजरती हुई कविता इस दशक में आकर अपनी पूर्ण परिवेशगत ईमानदारी, अनुभव की प्रामाणिकता और जनमानस का सही प्रतिनिधित्व करती हुई प्रस्तुत हुई। प्रस्तुत प्रयास में

'साठोत्तरी हिन्दी कविता की वस्तु चेतना' के इसी पहलू को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे शोध प्रबन्ध 'साठोत्तरी हिन्दी कविता : वस्तु और शिल्प' का प्रथम भाग है । द्वितीय भाग 'साठोत्तरी हिन्दी कविता : शिल्प के नये आयाम' नाम से पूर्व प्रकाशित है । इस अवसर पर शोध निर्देशक डॉ० दयाशंकरजी शुक्ल अध्यक्ष हिन्दी विभाग म० स० विश्वविद्यालय बड़ौदा को सादर स्मरण करता हूँ जिनके उचित मार्गदर्शन में यह कार्य सम्पन्न हुआ । मित्र डॉ० वेदप्रकाश 'अमिताभ' भुलाये नहीं जा सकते हैं । मैं उनके सहयोग की कद्र करता हूँ । अन्य जिन महानुभावों ने जितना और जिस रूप में सहयोग दिया उन सभी के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ ।

अन्त में ओ३मप्रकाश त्रय (श्री ओ३मप्रकाश रावत –अनुज, श्री ओ३मप्रकाश अग्रवाल –मुद्रक एवं श्री ओ३म प्रकाश सैनी –कम्पोजीटर) बधाई के पात्र हैं जिन्होंने मेरे विचारों को पुस्तक का रूप देने में मनोयोग से कार्य किया ।

पिलाजी गंज
महेसाना - 384001
1–8–84

भवदीय :
बादामसिंह रावत

अनुक्रम

विषय प्रवेश

भारतीय स्वतन्त्रता के पच्चीस वर्ष के इतिहास खण्ड को हम दो भागों में बांट सकते हैं —१. मोहग्रस्तता का काल, २. मोहभंग का काल। मोहग्रस्तता का काल वह था जिसमें भारतीयों को अनेक आश्वासन दिए गए तथा उनके पूरे होने का भ्रम प्रत्येक जनमानस में बना रहा। यह समय १९६० तक चलता रहा। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय संविधान के द्वारा नागरिकों को खुशहाली के अनेक आश्वासन दिए गए जिसमें मौलिक अधिकार और नीति निर्देशक तत्वों के द्वारा मानव के सर्वाङ्गीण विकास की बात दोहराई गई। जहाँ सामाजिक व्यवस्था से अनेक बुराइयों को हटाकर उनमें आमूलचूल परिवर्तन की बात कही गई, वहीं आर्थिक मोर्चे पर आत्म-निर्भर होने का दावा भी प्रस्तुत किया गया। विदेश नीति में पंचशील, सहअस्तित्व, अहिंसा और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को आधार बनाया गया। एक भाषा और एक झंडा का नारा भी लगाया गया। इन वायदों को पूरा करने के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ प्रारम्भ की गईं। प्रजातन्त्रीय शासन-प्रणाली के लिए आम-चुनाव हुए जिनमें कांग्रेस को जन-समुदाय ने विजयी बनाया। स्वतन्त्र भारत का नागरिक-आयोग, संविधान में संशोधन, आम चुनाव के समय दोहराये गए वायदे, पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारूप, राजनेताओं के आश्वासन भरे भाषण लगभग डेढ़ दशक तक सुनता रहा। जब उसे अपनी आशाएं फलीभूत होती दिखाई नहीं दीं, तो उसमें आशा और विश्वास के स्थान पर निराशा और कुंठा पनपने लगी। देश की खुशहाली, आत्मनिर्भरता तथा प्रगति का पर्दाफाश उस समय हुआ जब १९६२ में चीन ने भारत पर आक्रमण किया।

चीनी आक्रमण ने भारत की मोहग्रस्तता की केंचुल उतारकर उसका मोहभंग कर दिया जो लगभग एक दशक तक चलता रहा। सन् ६० के पश्चात् स्वतन्त्र भारत की उपलब्धियाँ हमारे सामने शनैः शनैः आती गईं। चीनी आक्रमण में हमारी पराजय ने पंचशील, अहिंसा और भाई-भाई के नारे के समक्ष प्रश्न चिह्न लगा दिया। राज-नेताओं की दूर-दर्शिता पर उंगली उठायी जाने लगीं। नेहरू तथा शास्त्री की मृत्यु ने भी राजनैतिक स्थिति को काफी प्रभावित किया। इसके पश्चात् ६५ और ७१ के पाकिस्तानी

युद्धों का सामना भी देश को करना पड़ा। जिससे हमारी अर्थ-व्यवस्था बुरी तरह चरमरा गई। आम चुनावों की फूहड़ रणनीति, सांसदिकों के झूँठे आश्वासन और कुर्सी की आपसी धक्का-मुक्की ने मानव को सोचने के लिए विवश कर दिया। सामाजिक ढाँचे में भी बिखराव आने लगा। भ्रष्टाचार, बेईमानी और अनाचार को प्रश्रय मिला। औद्योगिकरण से अनेक सामाजिक और पारिवारिक समस्याएँ जन्मी। युवा पीढ़ी में असन्तोष फैला और अनुशासनहीनता फैल गई। आर्थिक प्रगति के नाम पर गरीब और अमीर के बीच फासला बढ़ता गया। मँहगाई और बेरोजगारी ने मनुष्य का जीवन-स्तर आशानुकूल नहीं बढ़ने दिया। कहने का आशय है कि राजनीतिक आर्थिक तथा सामाजिक सभी मोर्चों पर हम हताश हुए। यह बात नहीं है कि स्वतन्त्र भारत में कोई उन्नति हुई नहीं। परन्तु दिए गए आश्वासनों का शतांश ही हमें मिल सका। न्याय का गला घुटते और अन्याय को पुरुष्कृत होते मनुष्य ने स्वयं देखा तो उसमें एक प्रकार का अस्वीकार और आक्रोश का स्वर पनपा।

देश में जब इस प्रकार का वातावरण हो जहाँ हर एक चीज बेहद गड़बड़ और अव्यवस्थित हो तो इस उथल-पुथल का प्रभाव प्रत्येक मनुष्य पर पड़ता है। इस वातावरण ने भारतीयों की मानसिकता को भी प्रभावित किया जिससे उनके भाव-विचार में परिवर्तन आने के साथ-साथ उनके सोचने-विचारने की प्रक्रिया भी अछूती न रह सकी। इस प्रकार के परिवेश से किसी खास किस्म की कविता की सम्भावना बलवती हो जाती है। सन् ६० के पश्चात् उसके परिवेश और परिस्थितियों के दबाव के फलस्वरूप जो कविता सामने आई वह निश्चय ही ६० से पूर्व की कविता से भिन्न थी, क्योंकि दोनों काल खण्डों की परिस्थितियाँ तथा परिवेश भिन्न थे। यह अन्तर हमें अनुभूति के स्तर पर ही नहीं अभिव्यक्ति के स्तर पर भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। सातवें दशक की अनुभूतियाँ इतनी तीव्र, आक्रोशपूर्ण और विरोधात्मक थीं कि उन्हें परम्परित काव्य-भाषा, छन्द, प्रतीक आदि के द्वारा अभिव्यक्त करना नामुमकिन था। अतः इस अनुभूति ने काव्य-शिल्प के मुहावरे को भी बदल दिया।

सन् ६० तक आते-आते हिन्दी कविता का मिजाज कुछ बदलने लगता है। जो नई कविता वचकानी मानवीयता के खोखले स्वांग, बौद्धिकता के छूछे प्रयास, नव रहस्यवाद और उल्टे-सीधे शिल्पगत प्रयोगों से होकर गुजर

रही थी वह निश्चय ही नई नहीं रही थी। युवा कवियों का एक वर्ग महसूस करने लगा था कि मौजूदा नई कविता समकालीन यथार्थ की ईमानदार अभिव्यक्ति नहीं कर पा रही है। जैसा कि डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव ने संकेत किया है कि सन् ६०—"यह विशेष समय नई काव्य सम्भावनाओं के आरम्भ से अधिक नई कविता के अन्त का सूचक है।"[1] इसके विपरीत अजितकुमार जैसे कवि आलोचक इस बात को गले नहीं उतार पा रहे हैं कि प्रवृत्ति, शैली, शिल्प, वाद या आन्दोलन किसी भी रूप में नई कविता समाप्त हो गई है या अपना कार्य पूरा कर चुकी है। उन्हीं के शब्दों में "मैं समझता हूँ कि नवीनतम अर्थात् पिछले कुछ वर्षों की कविता कोई नयी शुरुआत नहीं, बल्कि पूर्ववर्ती कविता का ही—उसी की दिशा और प्रवृत्ति में विकास है।[2] डॉ० जगदीश गुप्त भी सातवें दशक की हिन्दी कविता का आधार नई कविता को ही मानते हैं। दरअसल सातवें दशक की हिन्दी कविता छठे दशक की नई कविता से वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से भिन्न है। समकालीन भाव-बोध से सम्पन्न सातवें दशक की कविता को किसी अन्य उपयुक्त संज्ञा के अभाव में साठ के बाद की कविता या साठोत्तरी कविता कहकर सम्बोधित किया जाता है।

यदि सन् ६० और ७० के बीच लिखी गयी हिन्दी कविता की पड़ताल की जाय तो स्पष्ट होगा कि इस कालावधि में युवा कवियों के साथ-साथ बिचली पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के रचनाकार भी काव्य सर्जना में संलग्न थे। सुमित्रानन्दन पन्त, बच्चन, दिनकर आदि से लेकर अज्ञेय, भारती, गिरिजाकुमार माथुर आदि नये कवियों के अतिरिक्त धूमिल, कमलेश, लीलाधर जगूड़ी जैसे युवा कवि ६० से ७० के बीच सक्रिय रहे हैं। तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या सन् ६० के बाद लिखी गई हर प्रकार की कविता साठोत्तरी कविता कही जा सकती है अथवा साठोत्तरी कविता से आशय एक खास किस्म की कविता से है। पन्त, बच्चन यहाँ तक कि अज्ञेय और माथुर आदि कवियों का भाव-बोध 'आधुनिक' कम है 'रोमांटिक' अधिक है। इनकी कविता वास्तविक आधुनिक बोध और यथार्थ अनुभव की कविता नहीं कही जा सकती, इसके विपरीत १९६० ई० के बाद युवा कवियों की हिन्दी कविता में आधुनिक जीवन की विसंगति और अर्थ-हीनता की तीखी प्रतिक्रिया मिलती है। ६० के

१. नई कविता का परिप्रेक्ष्य—भूमिका।

२. कविता का जीवित संसार—पृ० ५१।

पहले की कविता में समकालीन परिवेश के प्रति तटस्थता और जीवन के प्रति एक ठंडापन सा मिलता है जब कि इसके विपरीत युवा कवियों द्वारा लिखी गई कविताओं के तेवर गुस्सैल हैं। 'इधर की बहुत सी रचनाओं में आधुनिक मध्यवर्गीय शहरी संस्कृति की संवेदना, समकालीन विसगति बोध, वर्तमान विसंगतियों पर व्यंग्य, वैज्ञानिक चेतना, मूल्य मूढ़ता और इनके साथ यंत्रणामयी विवशता, अस्तित्व संकट की अनुभूति, संशय, मृत्युबोध, आत्महत्या, आत्म-निषेध, भय, तनाव, अकेलेपन और विक्षोभ के स्वर हैं।''[1] युवा कवियों की इस विशिष्ट भावबोध से सम्पन्न रचनाएँ ही साठोत्तरी कविता का प्रतिनिधित्व कर सकती हैं।

साठोत्तरी हिन्दी कविता से आशय युवा कवियों द्वारा रचित उस खास किस्म की परम्परायुक्त हिन्दी कविता से है जो सन् ६० के बाद लिखी गई है और जो वस्तु और शिल्प की दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती काव्यान्दोलनों—छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता से सर्वथा भिन्न है। डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव के अनुसार सन् ६० के बाद की कविता—"उस कविता के बाद की कविता है जो ५० से ६० के बीच सूक्ष्म मानसिक एवं रागात्मक स्थितियों के उद्देश्य से लिखी जा रही थी।''[2] साठोत्तरी कविता मे नवगीत को भी शामिल नहीं किया जा सकता क्योंकि लिबास की ऊपरी तबदीलियों के बावजूद नवगीत का मिजाज भी रोमान्टिक है। केदारसिंह ने अपने एक निबन्ध में संकेत किया था कि सन् ६० के बाद कविता का विकास दो दिशाओं में हुआ है—

१—कविता से अकविता की ओर।

२—शुद्ध कविता से एक खास किस्म की प्रतिबद्ध कविता की ओर।[3]

इस प्रकार साठोत्तरी कविता का मूल्यांकन करते समय एक ओर अकविता वादियों की रचनाओं का अध्ययन अपेक्षित है तो दूसरी ओर प्रगतिशील और प्रतिबद्ध कवियों की कविता से गुजरना आवश्यक है। प्रस्तुत प्रबन्ध में साठोत्तरी कविता के अन्तर्गत एक ओर मुक्तिबोध, रघुवीरसहाय, सव्यसाची, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, वेणुगोपाल, कुमार विकल, रमेश गौड़,

---

१. चिन्तन डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम, पृ० १२१।

२. नई कविता का परिप्रेक्ष्य—पृ० १२१।

३. धर्मयुग ४ जुलाई, १९६५—लेख सन् ६० के बाद की हिन्दी कविता।

ज्ञानेन्द्रपति आदि प्रगतिशील युवा कवियों की रचनाओं को लिया गया है तो दूसरी ओर जगदीश चतुर्वेदी, गंगाप्रसाद विमल, श्याम परमार, सौमित्र मोहन आदि अकवियों की कविताएँ भी इसमें सम्मिलित हैं। प्रगतिशील कवियों के साथ अकविता सम्प्रदाय के कवियों पर आपत्ति की गुंजाइश है वास्तव में अकविता अस्वीकार और विद्रोह की कविता है। यह बात और है कि यह विद्रोह गलत गलियों में भटका हुआ है। इस शोध प्रबन्ध में प्रायः उन्हीं रचनाओं को लिया गया है जो आलोच्य काल के परिवेश को निकट से देखती हैं और अस्वीकार, विरोध, आक्रोश और विद्रोह की विभिन्न मुद्राओं में समकालीन यथार्थ को जैनुइन तरीके से आंकती है। कुछ ऐसी रचनाओं को भी इस शोध प्रबन्ध के दायरे में समेटा गया है जो नई कविता के प्रतिष्ठित हस्ताक्षरों से युक्त हैं। ऐसा करने के पीछे यह भावना निहित है कि पुरानी पीढ़ी की जिन रचनाओं में साठोत्तरी भाव-बोध उभरा है उन्हें साठोत्तरी कविता के अन्तर्गत लेने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। यही कारण है कि युवा कवियों के साथ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, शमशेर बहादुर सिंह, भवानीप्रसाद मिश्र, भारतभूषण अग्रवाल आदि की कविताओं पर भी विचार किया गया है।

प्रथम अध्याय

वस्तु : भारतीय और पाश्चात्य अवधारणाएँ

(क) वस्तु : कविता के सन्दर्भ में—

काव्य सृजन एक प्रकार की साधना है जो प्रत्येक सामान्यजन की शक्ति एवं सामर्थ्य से परे है। काव्य के प्रणयन हेतु विशेष प्रकार की 'प्रतिभा' की आवश्यकता होती है।[1] कवि अपनी प्रतिभा शक्ति द्वारा कल्पना को उन्मीलित करके अपने अन्तर्मन की गुहा में सुप्तावस्था में पड़े धूमिल, अस्पष्ट एवं अरूप भावों और विचारों को स्पष्ट और रूपायित करता है। रचयिता की सामूहिक भावनाएँ, आन्तरिक प्रेरणा और शक्ति के कारण उद्वेलित होकर वाह्याभिव्यक्ति में रूपान्तरित होती है।[2] प्रत्येक सृष्टि का प्राथमिक रूप मानसिक स्तर पर अवतरित होता है।

संसार के प्रत्येक घटना-चक्र तथा आकर्षण का कवि के संवे:नशील भावुक मन पर प्रभाव पड़ता है। जब इसी सत्य एवं सौन्दर्य को वह रेखांकित करता है, तभी कला का जन्म होता है। अभिव्यक्ति का यही वाह्यरूपाकार वह रचना है जो कवि की अनुभूतियों का मूर्त एवं सजीव चित्रण है। कविता का यही सत्य एवं सौन्दर्य पक्ष 'वस्तु' पक्ष को तथा वाह्यरूप उसके 'शिल्प' पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है।

कविता की अन्तश्चेतना का सम्बन्ध कवि की अनुभूतियों तथा भावनाओं से रहता है जो पर्याप्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि इस आन्तरिक शक्ति के अभाव में कविता का वाह्य रूप (ढाँचा) निर्मित नहीं हो सकता। कविता की इसी आन्तरिक चेतना को 'वस्तु' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। कविता में 'वस्तु' तत्व की भूमिका निर्विवाद स्वीकृत है। जिस प्रकार बिना बीज के वृक्ष तथा बिना आत्मा के शरीर की कल्पना नहीं की जा सकती उसी

---

१. प्रतिभैव च कवीनां काव्यकारणकारणम्—काव्यानुशासनम् (प्रथम अध्याय)
—हेमचन्द्र

2. Transformation of nature in Art—Dr. A. Coomar Swamy
Page—164-169.

प्रकार 'वस्तु' के बिना काव्य-निर्माण की परिकल्पना नहीं हो सकती। यदि कोई कलाकार 'वस्तु' को उपेक्षित कर रूप का निर्माण अपने 'शिल्प' कौशल के चमत्कार से करता भी है तो उसमें निष्प्राणता एवं निर्जीविता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होगा।

(ख) वस्तु के विविध पर्याय—

काव्य के अन्तर्गत 'वस्तु' को अनेक समानार्थी शब्दों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है जो समान भाव की व्यंजना करते हुए भी असमानता की ओर संकेत करते हैं—

१. वस्तु—

'वस्तु' शब्द अंग्रेजी के कन्टेन्ट (Content) शब्द का पर्याय है। हिन्दी में प्रचलित 'वस्तु' शब्द को अनेक समानार्थी शब्दों (कथ्य, अनुभूति, भाव इतिवृत्त, वर्ण्य, विषय आदि) के सन्दर्भों में प्रयुक्त किया जाता है। वस्तु के ये समस्त समान भाव व्यंजक शब्द भले ही कविता के अन्तरस्थ की ओर संकेत करते हों परन्तु 'वस्तु' शब्द इनसे कुछ भिन्न अर्थ का द्योतन करता है। कथ्य, वर्ण्य, इतिवृत्त आदि कविता के विषय से अधिक सम्बन्धित हैं, जब कि 'वस्तु' उसकी आन्तरिक चेतना है जो सर्जक के मानस पटल पर उसके परिवेश, परिस्थितियों तथा दृष्टिकोणों में परिवर्तन के फलस्वरूप प्रथम बार अवतरित होती है। 'वस्तु' का सीधा सम्बन्ध अनुभूति से है। अतः कवि के मानस की अनुभूतियाँ या उसका भावबोध ही वह 'वस्तु' तत्व है जो सक्षम शिल्प पाकर काव्यरूप ग्रहण करता है। विषय के साथ जब कवि का रागात्मक और संवेदनात्मक स्तर पर एकत्व हो जाता है तभी वस्तु को जन्म मिलता है। वह वस्तु ही हमारा 'कथ्य' और 'वर्ण्य' होता है जिसे हम कथन या वर्णन करना चाहते हैं। 'शिल्प' के ऊपर 'कथ्य' की प्रमुखता को भारतीय साहित्य चिन्तन-परम्परा का आवश्यक अंग बताकर नामवरसिंह[1] 'कथ्य' शब्द का प्रयोग करते हुए 'वस्तु' की ओर ही संकेत करते हैं। डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल की मान्यता है कि साहित्य की 'वस्तु' या वर्ण्य के अन्तर्गत रस, भाव, विभाव, विचार, चरित्र, इतिवृत्ति, प्रवृत्ति आदि वह सब समाविष्ट है या हो सकता है जो सृजन के लिए काव्य की सूक्ष्म या स्थूल मूल उपादान सामिग्री बन सकता हो।[2]

---

१. इतिहास और आलोचना—डॉ० नामवरसिंह, पृ० २५।

२. जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला, पृ० ५।

२. विषय—

"काव्य-विषय एवं काव्य-वस्तु का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है।[१] परन्तु फिर भी ये दोनों अपना अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं। काव्य-विषय संसार में भासित आभासित सभी वस्तुएँ हो सकती हैं किन्तु काव्य-वस्तु नहीं। काव्य वस्तु के लिए रागात्मक और संवेदनात्मक स्तर पर कृती का जुड़ना महत्वपूर्ण है। "काव्य रचना पेड़ या पहाड़ पर भी हो सकती है पर पेड़ और पहाड़ उसके विषय होंगे, वस्तु नहीं।"[२] कविता का विषय कविता के बाहर जाकर भी लोक-जीवन में स्थित रह सकता है पर काव्य-वस्तु अपनी कृति की संरचना के बाहर सिद्ध हो ही नहीं सकती।[३] कृति की मौलिकता उसके 'विषय' में न होकर उसकी 'वस्तु' में होती है। कवि पुराने विषय के अन्तर्गत नई वस्तु भी दे सकता है तथा नये विषय में पुरानी वस्तु का आरोपण भी कर सकता है।

२. इतिवृत्त—

इतिवृत्त अथवा कथानक का प्रयोग नाटक तथा उपन्यास के सन्दर्भ में अधिक होता है। यहाँ वह कहना प्रासंगिक होगा कि काव्य और कविता में शैल्पिक अन्तर है। जैसे शास्त्रीय परिभाषा में एक नाटक काव्य तो होता है पर कविता कदापि नहीं है। काव्य के क्षेत्र में महाकाव्य के कथानक के लिये इतिवृत्त का प्रयोग प्राचीन समय से होता आया है। इसका सम्बन्ध कहानी के सम्पूर्ण कलेवर से है चूँकि कविता में कोई भी कहानी कथा अथवा घटना विशेष का क्रमबद्ध वर्णन नहीं होता अतः उसको हम वस्तु पक्ष के अन्तर्गत स्थान नहीं दे सकते। वैसे इतिवृत्त में भी 'वस्तु' तत्व होता है जो कथानक को चारुता एवं उत्कर्ष प्रदान करता है। शुद्ध कविता तथा उसकी 'वस्तु' इतिवृत्त से प्रतिबद्ध और प्रतिश्रुत नहीं है।

'वस्तु' के विविध पर्यायों में 'कथ्य' कथा-साहित्य की 'वस्तु' के लिए और 'इतिवृत्त' प्रबन्धकाव्य की 'वस्तु' के लिए रूढ़ और प्रासंगिक माने गये हैं। 'विषय' वस्तुतः कच्चा माल है, जिसे अपने अनुभवों और विचारों से जोड़कर

१. शुक्लोत्तर काव्य चिन्तन—डॉ० श्यामबिहारी राय, पृ० ४६६।
२. आत्मनेपद—अज्ञेय, पृ० १६५।
३. शैलीगत विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका—रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव पृ० ११।

रचनाकार—'वस्तु के रूप में पकाता है। इस प्रकार सभी पर्यायों में 'वस्तु' अधिक संगत और व्यावहारिक है।

(ग) 'भारतीय काव्य-शास्त्र में वस्तु-विवेचन'—

यद्यपि संस्कृत साहित्य के आचार्यों, चिन्तकों तथा विद्वानों ने उसके शिल्प पक्ष (अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, छन्द आदि) पर ही अधिक विचार किया है तथापि अपने इस विश्लेषण में वे 'काव्य-वस्तु' का विवेचन भी करते गये हैं क्योंकि सभी भारतीय मनीषी 'वस्तु' एवं 'शिल्प' के समन्वय के पक्ष में रहे हैं। 'वस्तु' शब्द का प्रयोग कथात्मक साहित्य के अन्तर्गत कथावस्तु, वस्तु योजना, इतिवृत्त तथा वृत्तान्त आदि शब्दों के द्वारा प्रयुक्त हुआ है। महाकाव्य में भी कथानक अथवा कथावस्तु के स्वरूप में इसका प्रयोग हुआ है।

'वस्तु' (Content) शब्द कविता के विशुद्ध अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'हिन्दी शब्द सागर' में 'वस्तु' शब्द के अर्थ में सत्य, इतिवृत्त एवं वृत्तान्त प्रयुक्त हुआ है।[1] वस्तु का पदार्थ, द्रव्य आदि के अर्थों में भी प्रचलन हुआ हैं।[2] भागवतकार[3] ने वस्तु का अर्थ ब्रह्म से भी स्थापित किया है जो कि 'सत्य' के अर्थ की ब्रह्म के रूप में व्यंजना देता है।

संस्कृत साहित्य में भरत से लेकर विश्वनाथ तक 'वस्तु' को ललित विन्यास देने का प्रयास किया गया है। काव्य के आस्वादन के लिए उसकी 'वस्तु' पर विचार किए बिना नहीं रहा जा सकता क्योंकि कविता का प्रभाव उसके वस्तु-पक्ष के द्वारा अनुस्यूत होता है, शिल्प तो उसे सजा-संवारकर प्रस्तुत कर देता है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में कोरी रीति (रूप) को काव्य की आत्मा मानना स्वीकार न करते हुए ध्वनि को तीन भागों में विभक्त किया है—

(१) रसध्वनि (२) अलंकार ध्वनि (३) वस्तु ध्वनि

ध्वनिकार ने 'वस्तु-ध्वनि' को ध्वनि का महत्वपूर्ण भेद स्वीकार किया है।

१. हिन्दी शब्द सागर (छठा खण्ड) का० ना० प्र० सं० श्यामसुन्दरदास पृ० ३१०८।

२. "बुद्धद्रव्यं स्तैपिकं स्यात सत्वं द्रव्य वस्तु च"—शब्दकल्पद्रुम, चतुर्थ भाग पृ० ३११।

३. भागवते ६/४/२७।

आचार्य धनंजय[1] ने वस्तु की सत्ता को काव्य में स्वीकार किया है। आचार्य विश्वनाथ[2] और पंडितराज जगन्नाथ[3] ने भी वस्तु को ध्वनि का भेद मानकर उसके अस्तित्व को महत्व प्रदान किया है।

सामान्य मानव की भाँति ही कवि जीवन के विविध क्षेत्रों से वस्तु प्राप्त करता है परन्तु कलाकार उसे अपनी प्रतिभा द्वारा आनन्दप्रदायिनी कर कथात्मक रूप में हमारे सामने प्रस्तुत कर देता है। अतः जीवन से सम्बन्धित कोई भी दृश्य और अदृश्य उपादान जो कलारूप में परिणत हो सके काव्य-वस्तु बनने का अधिकारी है। आचार्य भामह भी लिखते हैं—"कोई शब्द कोई अर्थ, कोई न्याय, कोई कला ऐसी नहीं जो काव्य का अंग न हो या न हो सकती हो। अहो कवि का भार कितना बड़ा है।"[4] आचार्य रुद्रट के अनुसार भी इस संसार में कोई भी ऐसा वाच्य या वाचक नहीं है जो काव्य का अङ्ग न हो।[5]

काव्य की आत्मा संस्कृत के आचार्यों ने अपने सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, रस तथा औचित्य में प्रतिष्ठित की परन्तु उन्होंने काव्य-वस्तु को सृजन के लिए एक महत्वपूर्ण तत्व मानकर उस पर दृष्टिपात अवश्य किया है। इन सभी आचार्यों ने 'वस्तु' की सत्ता को स्वीकार किया है।

काव्य-वस्तु पर संस्कृत साहित्य के बाहर भी विद्वानों और चिन्तकों ने अपने मत व्यक्त किये हैं। बाबू गुलाबराय 'वस्तु' और 'रूप' के सामंजस्य में ही कला की पूर्णता मानते हैं। उनके अनुसार वस्तु को वास्तविक जीवन से ग्रहण करना चाहिए। वस्तु और रूप की असंपृक्तता उन्हें असहनीय है।[6]

---

१. दशरूपक—धनंजय पृ० ३१३-३१४।

२. साहित्य दर्पण ४/७/८।

३. रस गंगाधर (द्वितीय आनन) पृ० १३५।

४. न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न स कला।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान्कवे॥ —काव्यालंकार ५/४

५. विस्तरस्तु किमन्यतन्त इह वाच्यं न वाचकं लोके।
न भवति यत्काव्यांगं सर्वज्ञत्वं ततो न्यैषा॥ —काव्यालंकार १/१६

६. सिद्धान्त और अध्ययन (छठा संस्करण) गुलाबराय, पृ० २२२।

भारतीय दृष्टि में रसास्वादन ही काव्य का ध्येय रहा है। अतः जहाँ आलम्बन ही इसका मूलाधार है वहीं पर अनुभूति या वस्तु को महत्ता दिये बिना काम नहीं चल सकता। कोरी 'वस्तु' को भी काव्य नहीं कहा जा सकता। जब तक कलाकार के चमत्कार से 'वस्तु' एक निश्चित आकार ग्रहण नहीं कर लेती वह निष्प्राण है, निर्जीव है। तथापि सृष्टि के मुख्य उपादान के रूप में 'वस्तु' को महत्व देना ही होगा। भारतीय दृष्टि अनुभूति को ही अभिव्यक्ति का स्वरूप निर्धारित करती है।[१] अनुभूति और कल्पना में अनुभूति ही वास्तविक संवेद्य है, कल्पना केवल साधन मात्र है।[२]

भारतीय कवियों और विचारकों का मत भी काव्य-वस्तु को उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करने का समर्थन करता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर[३] एव दास गुप्ता[४] वस्तु को महत्व देते हुए रूप के साथ उसके सामंजस्य के पक्षपाती हैं। वे दोनों के एकत्व में ही कला की उदात्तता के दर्शन करते हैं। डॉ० राधाकृष्णन[५] भी वस्तु की सत्ता स्वीकार करते हुए उसे गौरव प्रदान करते हैं। जयशंकरप्रसाद ही ऐसे कवि हैं जो अनुभूति को ही गौरव प्रदान करते हैं। वह व्यंजना को अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम मानते हुए काव्य-वस्तु की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं।[६]

निष्कर्ष—

काव्य में 'वर्ण्य' या 'वस्तु' का महत्व निर्विवाद है। इसे संस्कृत के आचार्यों से लेकर हिन्दी के विद्वान् एवं भारतीय चिन्तकों ने एक मत से स्वीकारा है। काव्य-वस्तु के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण व्यापक है। क्योंकि कोई भी स्थूल या सूक्ष्म भाव जो संवेदना के धरातल पर ग्रहण किया जाय काव्य-वस्तु बन सकता है। बिना अनुभूति या वस्तु (शास्त्रीय शब्दावली में

---

१. काव्य में उदात्त तत्व (भूमिका) —डॉ० नगेन्द्र, पृ० ११।
२. हिन्दी ध्वन्यालोक (भूमिका) -डॉ० नगेन्द्र, पृ० ७०।
3. Persnality—Page 20.
4. Fundamental of Indian Art (1960) -Dr. Das Gupta, Page 137-138.
5. "Form and content are closely found up and only great thing can give great Poetry."
—An Idealist view of life—S. Radha Krishanan, Pg. 190.
६. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध —जयशंकरप्रसाद पृ० २५।

विभाव पक्ष) के रसोद्रेक नहीं हो सकता जो कि भारतीय काव्य-दृष्टि की अन्तिम और अनिवार्य परिणिति है। भारतीय चिन्तन परम्परा स्वस्थ आत्मा की अपेक्षा करती है, जिससे स्वस्थ शरीर की कल्पना की जा सके।

(घ) वस्तु सम्बन्धी पाश्चात्य मत—

अंग्रेजी साहित्य में हिन्दी के 'वस्तु' शब्द के लिए कण्टेण्ट (Content) शब्द का प्रयोग प्रायः होता है यथा—'वस्तु' और 'रूप' (Content and form) 'वस्तु' शब्द के लिए अंग्रेजी में कहीं-कहीं 'मैटर' (Matter) शब्द भी प्रयुक्त हुआ है जो कि 'कण्टेण्ट' शब्द की ही व्यंजना करता है।

पाश्चात्य साहित्य में दो अतिवादी विचारधाराएँ देखने को मिलती हैं जिनमें एक 'स्कूल' वस्तु को प्रधानता देता है तो दूसरा निस्संग रूप (शिल्प पक्ष) की कल्पना करता है। ''प्लेटो' विचार (Idea) को प्राथमिकता देता है, तो क्रोंचे कोरे रूप की कल्पना करके उसे समर्थन देता है।

यदि क्रोंचे के सिद्धान्त का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो आभासित होता है कि वह रूप के कारण ही 'वस्तु' की सत्ता का समर्थक है। 'वस्तु' के दर्शन पर विवेचन करते हुए उनका मत है—'वस्तु' या 'द्रव्य' के बिना हमारी आध्यात्मिक क्रिया खोखली रह जायेगी उसके बिना वह वास्तविक और मूर्त रूप धारण न कर सकेगी।[1] अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि 'वस्तु' का महत्व उसके रूप में परिवर्तन होने के बाद ही होता है वह 'वस्तु' को अस्तित्व शून्य नहीं वरन् हमारी स्वयं प्रकाशजन्य क्रिया के बिना ज्ञेय नहीं मानते।[2]

'सिडनी' काव्य के अन्तर्गत 'वस्तु' एवं 'रूप' दोनों की सत्ता को स्वीकार करते हुए मानव प्रकृति के यथार्थ व सजीव चित्रण में ही कला की पूर्णता देखते हैं।[3] 'जानसन' भी वस्तु को महत्ता प्रदान करते हैं।[4] काव्य के लिए 'वर्ड्सवर्थ' वस्तु तत्व की यथार्थता पर बल देते हैं।[5] जब कवि

---

१. पाश्चात्य समीक्षा दर्शन जगदीशचन्द्र जैन, पृ० ३५३ के आधार पर।

२ वही, पृ० ३५६ के आधार पर।

3. Critical Approaches to literature —David Daiches, Page 66 to 68.

4. Ibid—Page 98.

5. Critical approaches to literature— Page 97, 98

अपनी सूक्ष्म अनुभूति के आधार पर जीवन से 'वस्तु' का चयन करेगा तो उसमें यथार्थता का बोध अवश्य होगा। इस 'वस्तु' यथार्थ के साथ उसका 'शिल्प' भी रमणीक होगा। 'कालरिज' के विचार से रमणीय रूप का सृजन 'वस्तु' की मूल प्रकृति से सहज रूप में ही निःसृत होता है।[१]

काव्य-वस्तु के जिन पाश्चात्य विवेचकों ने रूप को महत्व दिया है उन्होंने भी 'वस्तु' का स्थान उपेक्षणीय नहीं माना है। उनकी दृष्टि में 'वस्तु' का स्थान गौण अवश्य हो गया है। विरोधी आचार्यों ने भी किसी न किसी रूप में 'वस्तु की महत्ता को स्वीकार किया है। 'वर्ड्स फील्ड'[२] और 'अबर क्राम्बी'[३] रूप तत्व को महत्ता देते हुए भी बिना वस्तु तत्व के रूप की सत्ता नहीं मानते।

'हर्बर्ट रीड' ने कविता के वस्तु तत्व का विवेचन किया है। उनके अनुसार जब वस्तु रूप के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेती है तभी हम किसी मौलिक सृजन की कल्पना कर सकते हैं।[४] 'कालरिज' ने भी 'वस्तु' की सत्ता को स्वीकार किया है परन्तु रूप को विशेष महत्व प्रदान करके।[५] विनयन (Binyon) साहित्य में उसी वस्तु तत्व को ग्रहण करना चाहते हैं

You can not derive true and permanent pleasure out of any feature of a work which does not arise naturally from the total nature of the work.

—Ibid— Page 102.

The form can not be simply a form, It must be the form of some thing Page 125.

—Principles of literary criticism—

Form itself can not be significant. Form can only exit as the form of substance and the significance given by form is significance which form gives to substance.

—Ibid —L. Abbercrombie. Page 57.

4. Principles of literary criticism Page 66.
5. When a work of art has its own inherent law originating with its very invention and fusing in on vital unity both structure and content, then the regulting form may be described as organic.

—Collected Essay in criticism —Herbert read. Page 19.

जिसे साहित्यकार संवेदनात्मक धरातल पर स्पर्श कर चुका हो।[१] अर्थात् अनुभूतिजन्य काव्य-वस्तु ही कविता में सौन्दर्य की वृद्धि कर सकती है तथा काव्य के प्रधान लक्ष्य को सार्थक कर सकती है। सेंटविसल[२] एव मैथ्यू आर्नल्ड[३] आदि ने साहित्य (काव्य) क्षेत्र में 'वस्तु' का महत्व निर्विवाद माना है।

इन कला चिन्तकों के साथ ही कुछ मार्क्सवादी कला विवेचक भी है जिन्होंने काव्य-वस्तु के महत्व का प्रतिपादन करते हुए अपने तार्किक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। इन काव्य समीक्षकों में अनातोली लूनाचार्स्की एवं आर्नफिशर का नाम महत्वपूर्ण है। ये दोनों ही विद्वान् काव्य के वस्तु तत्व की ओर विशेष आग्रह करते दीख पड़ते हैं। लूनाचार्स्की के अनुसार 'वस्तु' के लिए 'शिल्प' को खोजना व्यर्थ है क्योंकि काव्य-वस्तु स्वयं अनुकूल रूप की तलाश कर लेती है। 'वस्तु' ही रूप का निर्धारण करती है[४] लूनाचार्स्की कला की मौलिकता उसकी 'वस्तु' की मौलिकता में मानते हैं। उनके अनुसार मौलिक वस्तु' के अभाव में रचना मूल्यहीन तो हो ही जाती है उसका रूप भी निष्प्राण एव निर्जीव हो जाता है। पुरानी 'वस्तु' को अनेक रूपों में प्रस्तुत करना मौलिकता नहीं यह रूपवादी आग्रह है।[५]

आर्नफिशर की 'वस्तु' सम्बन्धी व्याख्या अधिक वैज्ञानिक है। इन्होंने 'वस्तु' में परिवर्तन से सम्बन्धित दो सिद्धान्तों की ओर संकेत किया— १—द्वन्द्वात्मक २—आवयविक एकता।

---

1. In other words we have adepted the stand point of Poetry itself, and so long as we find in it the finer spirit of all knowledge. We are contant to believe that nature herself will provide an appropriate vehicle for its utterances
   —Principles of literary criticism—W. B. Worsfold P. 47.
2. The study of Peotry —A. P. Entwistle Page 218.
3. The Function of criticisum, Mathew arnold's Essay.
4. It is especially evident in literature that it is the artistic content—The flow of thoughts, emotions in the form of images or connected with the images—which is the decieve elements of the work as a whole. The content strives of itself towards a definite form.
   —On literature and art —A. Lunacharsky. Page 14
5. On literature and Art —A. Lunacharsky, Page 20-21.

फिशर की मान्यता है कि वस्तु में परिवर्तन के साथ ही रूप में भी परिवर्तन होता है। रूप का पहले 'वस्तु' के साथ संघर्ष (द्वन्द्व) तथा फिर रूप में विस्फोट होकर नया सृजन (रूप) जन्म लेता है।[1] काव्य में वस्तु तत्व परिवर्तनशील है अतः फिशर महोदय लिखते हैं कि हम कला रूप को स्थिर तथा कलावस्तु को क्रान्तिकारी की संज्ञा दे सकते हैं।[2] फिशर की दूसरी निष्पन्ति आवयविक एकता ( ) की है। जब हम किसी पौधे या प्राणी को नया पौषक तत्व देते हैं तो उसकी आन्तरिक 'वस्तु' में परिवर्तन होता है। यह आन्तरिक परिवर्तन उसके वाह्याकार को भी प्रभावित करता है। इसी नियम को उसने कविता पर आरोपित किया।

जार्ज लुकाच 'वस्तु' का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि विषयवस्तु की नवीनता नए कला रूपों की माँग करती है।[3] एजरा पाउण्ड भी काव्य में 'वस्तु' को आवश्यक उपादान मानते हैं। यदि कविता 'वस्तु' या भाव से शून्य है तो चाहे कैसा भी शिल्पगत चमत्कार हो, वह उसको आकारात्मक सौन्दर्य तो प्रदान करता है लेकिन मात्र आकार का संभार उसको स्थायी नहीं बना पाता है।[4]

पाश्चात्य साहित्य के सभी आचार्यों ने—किसी ने मुख्य रूप में तो किसी ने गौण रूप में 'वस्तु' सत्ता को स्वीकार किया है। रूपवादियों ने रूप के सम्बल से ही वस्तु की कल्पना की है। परन्तु कला के उत्कर्ष के लिए 'वस्तु' तत्व की महत्ता है क्योंकि नवीन सृजन जीवन के नये झरोखों से देखने के बाद ही होगा जिसमें नई दृष्टि होगी नई विचारधारा तथा नवीन भाव-बोध।

भारतीय एवं पाश्चात्य मान्यताओं को देखने से यह निष्कर्ष हाथ लगता है कि, हालांकि, बहुत से विद्वानों और चिंतकों ने 'वस्तु' और शिल्प' को अपनी अतिवादी दृष्टि से श्रेष्ठ ठहराया है फिर भी प्रबुद्ध विचारकों का एक बड़ा वर्ग 'वस्तु' और शिल्प' के समान महत्व पर बल देता है। ●

1. The Necessity of Art —Ernest Fisher, Page 124
2. Ibid Page 125.
3 "The complexity of a new subject matter will demand a variety of new form" The meaning of contenpasy. realism— Lukacs Page 108.
4. Make it new —Ezra Pound Page 213.

द्वितीय अध्याय

'पृष्ठभूमि, समकालीन परिवेश, आधुनिकता बोध' और साठोत्तरी कविता'

विश्व इतिहास के राजनीतिक रंगमंच पर भारतवर्ष की स्वतन्त्रता एक महान् उपलब्धि है। एक बहुत लम्बे अन्तराल के पश्चात् भारतवर्ष के जन-साधारण ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर मुक्ति की सांस ली। १५ अगस्त, १९४७ को देश स्वतन्त्र हो गया। इसी के फलस्वरूप चारों ओर 'उत्साह और भावी खुशहाली की तस्वीर सबके मानस पटल पर अंकित हो गई।' 'किसी भी देश के लिये स्वतन्त्रता (प्राप्ति) महज एक घटना नहीं होती, यह उस देश के लोगों की अदम्य मुक्ति-कामना, संघर्ष और सामूहिक चेतना का प्रतिफल होती है। स्वतन्त्रता के पीछे एक लम्बे संघर्ष का इतिहास रहता है और यह संघर्ष उस देश की मानसिकता को एक नया अर्थ और आयाम देता है।'[1] हमारे देश के लिये स्वतन्त्रता प्राप्ति के दो अर्थ थे। एक ओर देश अंग्रेजों के शिकंजे से छूट रहा था दूसरे यहां पर 'राजतन्त्र' के स्थान पर 'प्रजातन्त्र' की स्थापना होनी थी। इस महान् उपलब्धि का स्वागत देश की जनता को अत्यन्त उल्लास और उत्साह के साथ करना चाहिए था, परन्तु 'स्वतन्त्रता' को दो कारणों से हमारे द्वारा सहज रूप में ग्रहण नहीं किया जा सका। एक तो 'दूसरे महायुद्ध के बाद हमारे लिये यह स्वाधीनता की उपलब्धि बहुत कुछ आकस्मिक रही है, देश की जनता को इस पर विश्वास न था। इसके अतिरिक्त देश विभाजन की स्थिति, सम्बद्ध रक्तपात, उत्पीड़न, अत्याचार, अमानुषिक व्यवहार ने हमारी सारी संवेदनाओं को कुंठित कर दिया था।'[2]

पृष्ठ - भूमि—

भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के पच्चीस वर्षों के काल खण्ड को हम दो भागों में बांट सकते हैं—१. मोहग्रस्तता का काल २. मोहभंग का काल। मोहग्रस्तता का काल स्वतन्त्रता के प्रारम्भ का वह समय था जिसे नेहरू युग

---

१. आधुनिकता और समकालीन रचना सन्दर्भ—डॉ० नरेन्द्रमोहन पृ० ७७।
२. साहित्य का परिप्रेक्ष्य —डॉ० रघुवंश पृ० १३४।

कहा जा सकता है। इस काल में भारतीय जनमानस को उसकी खुशहाली के लिए अनेक आश्वासन दिए गए तथा उनके पूर्ण होने का भ्रम प्रत्येक नागरिक में बना रहा। इस काल की अवधि सन् ६० तक अथवा चीनी आक्रमण तक मानी जा सकती है। स्वतन्त्र भारत के लिए एक स्वप्न संजोया था यहाँ के काफिरों ने भी जनता को 'रामराज्य' का आश्वासन दिया। इसी आशा और विश्वास के साथ में प्रथम आम चुनाव में जनता ने कांग्रेस को भारी बहुमत से विजयी बनाया। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय संविधान का निर्माण हुआ जिसमें देश के नागरिकों को उनके सर्वाङ्गीण विकास के लिए अनेक मौलिक अधिकार और नीति निर्देशक तत्वों का अधिकार दिया गया। समाज से अनेक सामाजिक बुराइयों को हटाकर जहाँ सामाजिक व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन की बात को दोहराया गया वहीं आर्थिक मोर्चे पर आत्म-निर्भर होने की बात भी कही गई। इस समस्या के निराकरण के लिए पंचवर्षीय योजनाओं का आरम्भ हुआ। योजनाओं के प्रारूप से लगता था कि रोटी कपड़ा और मकान की समस्या शनैः शनैः सुलझ जायेगी, हम अपने ही खेतों का अनाज खायेंगे तथा अपने पैरों पर खड़े होने का प्रयास करेंगे। भारत की विदेश नीति में पंचशील, सह-अस्तित्व, अहिंसा और वसुधैव कुटुम्बकम्' को आधार बनाया गया। एक भाषा और एक झंडा का नारा भी लगाया गया। कुल मिलाकर भारत को राजनैतिक स्वतन्त्रता तो मिल गई थी परन्तु उसकी सामाजिक आर्थिक स्वतन्त्रता का उत्तरदायित्व बाद की शासकीय व्यवस्था पर था और देश में प्रत्येक नागरिक को न्याय तथा अधिकार दिलाने के लिए ही यहाँ प्रजातान्त्रिक प्रणाली को अपनाया गया। स्वतन्त्र भारत का नागरिक आयोग, संविधान संशोधन, आम चुनाव के समय दोहराये गए वायदे, पंच-वर्षीय योजनाओं के प्रारूप, राजनेताओं के आश्वासन भरे भाषण लगातार डेढ़ दशक तक सुनता रहा। जब उसे अपनी आशाएँ फलीभूत होती दिखाई नहीं दीं, तो उसमें आशा और विश्वास के स्थान पर निराशा और कुण्ठा पनपने लगी। उसमें अपने राजनेताओं तथा अपनी व्यवस्था के प्रति विद्रोह जाग उठा। देश की खुशहाली, आत्म-निर्भरता तथा प्रगति का पर्दाफाश उस समय हुआ जब १९६२ में चीन ने भारत पर आक्रमण किया।

समकालीन परिवेश—

जन साधारण ने स्वतन्त्रता के मूल में बहुत से स्वप्न और सिद्धान्त संजो रखे थे जिनके फलस्वरूप उसे नये वातावरण में नये 'सूर्य' की तलाश थी

जो बिना किसी भेदभाव के सबको आलोकित कर सके। क्योंकि "भारतीय स्वतन्त्रता का अर्थ है—सामन्तवाद, साम्राज्यवाद, आर्थिक और सामाजिक शोषण से मुक्त भारतीय मानव की प्रतिभा स्थापित करना"[१] इस स्थापना के लिये आवश्यक था कि हम झंडा बदलने के साथ-साथ व्यवस्था में भी आमूल-चूल परिवर्तन करते। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। वास्तव में हमारे बरसों के आदर्शपूर्ण जन-आन्दोलन की परिणति ऐसे ढुलमुल समझौते में हुई जिससे हमें नाममात्र की ही मुक्ति मिल सकी। जिस व्यवस्था के विरुद्ध हम संघर्षरत थे, हमें उसी व्यवस्था को तिनके की तरह ग्रहण करना पड़ा।[२] इस अधकचरी स्वतन्त्रता का परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में हमारी प्रगति उल्लेखनीय नहीं कही जा सकती। एक स्वतन्त्र राष्ट्र से जो आशायें होती हैं वे आज तक पूरी नहीं हो पाईं। इसके लिये कांग्रेस सरकार, कर्मचारी तथा जनता सभी न्यूनाधिक रूप से उत्तरदायी हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की राष्ट्रीय सरकार को विश्व के सामने यह सिद्ध करना था कि वह राजदण्ड संभालने तथा अपनी सीमाओं की रक्षा करने में सर्वथा समर्थ है। जहाँ सरकारी अफसरों को देश के प्रति अपनी निष्ठा दिखाने की चुनौती मिली थी, वहीं जनसाधारण को भूलना था कि वह मात्र शासित प्रजा नहीं है और उसे नई राजनीतिक संस्कृति के सबक सीखने थे।[३] इसी का कुप्रभाव है कि हमारी कतिपय उपलब्धियों के साथ असफलताओं का विशाल तांता स्वतन्त्रता के दरवाजे पर आसन जमाये बैठा रहा। सन् ६० के पश्चात् हमारी आशा और आकांक्षाओं का बिखराव हमारी असफलताओं की देन है।

१. राजनीतिक परिस्थितियाँ—

भारतीय संविधान के द्वारा भारत को एक ऐसा जनतन्त्र माना गया जिसमें सभी नागरिकों को समान रूप से मौलिक अधिकार प्राप्त करने की व्यवस्था है। इस संविधान में प्रत्येक व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की

१. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी-साहित्य का इतिहास -डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ९।
२. आलोचना (त्रैमासिक), जुलाई-सितम्बर ७२, समकालीन हिन्दी कविता में आजादी की तस्वीर —भारतभूषण अग्रवाल—पृ० ३।
३. बिन्दु (त्रैमासिक) वर्ष ६ संयुक्तांक विशेषांक (३-४) 'राष्ट्र निर्माण की प्रतिक्रियाभितियाँ और गवाक्ष' —डॉ० योगेश अटल, पृ० ५३१।

स्वतन्त्रता दी गई है। कानून के समक्ष सभी समान हैं। प्रत्येक व्यक्ति को संस्था तथा संघ बनाने का अधिकार है। धर्मनिरपेक्षता, वालिग मताधिकार, भेदभाव से मुक्ति आदि इस संविधान की कतिपय विशेषताएँ हैं। समाज के कमजोर वर्गों मुख्यत: स्त्रियों और अछूतों के लिए विशेष ध्यान रखा गया है। उन्हें भी अन्य नागरिकों की भाँति अधिकार दिये गये हैं। जातिगत, धर्मगत एवं रंगगत भेदभाव का अभाव इस संविधान में है। "संक्षेप में सिद्धान्ततः हमारा राज्य अब जनता द्वारा जनता के लिए और जनता का राज्य है और कल्याण राज्य स्थापित करना उसका उद्देश्य है। जिला खण्ड और ग्राम स्तर पर पंचायती राज्य की स्थापना के बाद छोटे से गाँव से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक प्रजातांत्रिक राज्य की स्थापना से प्रत्येक व्यक्ति को अपना-अपना व्यक्तित्व और साथ ही राष्ट्रीय व्यक्तित्व विकसित करने का अवसर प्रदान किया गया है। (खेद है कि दोनों व्यक्तित्वों में अभी समन्वय उपस्थित नहीं हो सका)।"[१]

भारतीय संविधान ने सामन्ती और पूँजीवादी मूल्यों को दुर्बल बनाकर नवीन लोकतन्त्रीय परम्पराओं के श्रीगणेश का मार्ग प्रशस्त किया था। देश में आतंक, भय और शोषण को समाप्त करके निर्भयता सौहार्द और बन्धुत्व की भावना को विकसित करने का श्रेय बहुत कुछ भारतीय संविधान को प्राप्त है। विगत पच्चीस वर्षों में भारतीय संविधान और लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली की सार्थकता भी प्रमाणित हो चुकी है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय संविधान के निर्देशक सिद्धान्त जनवादी हैं लेकिन इसकी धाराओं और विधियों में इन मूल सिद्धान्तों की स्पष्ट अवहेलना मिलती है। मूल अधिकारों के अन्तर्गत संपति के अधिकार को मान्यता देकर वस्तुतः यथास्थितिवाद की वकालत की गई है।' मूल अधिकारों में प्रत्येक व्यक्ति को कार्य पाने, जीने आदि के अधिकार शामिल नहीं हैं। अर्थात् मूल अधिकारों की रचना प्रतियोगी तथा संग्रहशील (एक्वीजीटिव) पाश्चात्य समाजों से प्रेरित होकर की गई है। इसलिए व्यक्तियों को कार्य, शिक्षा, स्वास्थ्य, निवास तथा वस्त्र प्राप्त करने के मूल अधिकार नहीं दिये गये। इन्हें साधनों और संपत्ति के साथ जोड़ दिया गया। शिक्षा-सदन, स्वास्थ्य केन्द्र आदि सबके लिए खुले हैं लेकिन जो समर्थ हैं

१. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास —डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० १७।

वे ही उच्च शिक्षा प्राप्त कर पाते हैं।"[१] संविधान संशोधनों के नाम पर उपलब्धियों के लिए जितना शोर-शराबा किया गया व्यावहारिक रूप में उसका प्रभाव उतना नहीं हो पाया।

सातवें दशक के आरम्भ के साथ देश में एक ऐतिहासिक मोहभंग का जन्म होता है। यह मोह भंग एक प्रकार का स्वप्न भंग था। स्वतन्त्रता के पश्चात् जनसाधारण में भविष्य के जो सुख-स्वप्न देखे थे, आर्थिक और सामाजिक स्तर पर उन्नति और खुशहाली की जो कल्पनाएं की थीं, जब उनके साकार होने में कोई लक्षण दिखाई नहीं दिये तब जनता में असन्तोष उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इस आक्रोश के फलस्वरूप विरोध की राजनीति उभरकर सामने आई। "लेकिन विरोध की इस राजनीति के सामने कोई वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनैतिक दर्शन, तर्क संगत, दृष्टिकोण तथा भविष्य के लिये सामाजिक व्यवस्था की कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं थी। अक्सर यह विरोध की राजनीति निहित स्वार्थों के षड्यन्त्र का शिकार होती रहती है।"[२] यह देश का दुर्भाग्य और विरोधी दल के लचरपन का ही प्रमाण है कि आज तक सत्तारूढ़ दल के मुकाबले कोई राजनैतिक विकल्प हम नहीं दे पाये। सन् ६७ के आम चुनाव के परिणामों ने देश की दिशाहीनता, खीझ और आत्मबोध का परिचय दिया। देश के सात प्रान्तों में कांग्रेस की पराजय के बाद संविद सरकारों का गठन हुआ तथा उनकी विफलताओं ने उनके भविष्य के प्रति प्रश्न चिह्न लगा दिया इस समय मनुष्य दिग्भ्रान्त था "पूरब जांय कि पश्चिम धाम जांय कि दक्षिण, यह निर्णय नहीं हो पा रहा है। दक्षिण पन्थ उतना ही मजबूत लगता है जितना वाम-पन्थ और निर्दलियों की विशाल संख्या इस बात को और सही बताती है कि हिन्दुस्तान का मन संशयात्मा 'टू बी और नाट टू बी' की अवस्था में है।"[३] निराश जनता को इन्दिरागांधी के रूप में आशा की किरण दिखाई दी। कांग्रेस का विभाजन हुआ। 'गरीबी हटाओ' के नारे का प्रभाव जनमानस पर हुआ। ६९ में बैंकों का राष्ट्रीयकरण तथा

१. हिन्दी वाङ्मय : बीसवीं शती (सं० डॉ० नगेन्द्र)—डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० ८०।

२. समकालीन हिन्दी साहित्य लेख—सव्यसांची (संपादक—वेदप्रकाश अमिताभ तथा अन्य) पृ० ३८।

३. ज्ञानोदय जून १९६७ कुबेरनाथ राय, पृ० २१।

७० में नरेशों के विशेषाधिकार की समाप्ति के निर्णय से जनता की आशा को कुछ बल मिला है ।

आजादी के मोहभंग की एक जबर्दस्त घटना सन् ६२ के चीनी आक्रमण के बाद सन् ६५ और ७१ के पाकिस्तानी युद्ध, नेहरू, शास्त्री और लोहिया जैसे राजनेताओं की मृत्यु आदि ऐसी कितनी ही घटनाएँ घटी हैं जो अपने जातीय इतिहास में किसी न किसी विशेष तारीख के रूप में दर्ज हैं। वामपंथी दलों का एक खूंखवार आक्रामक शक्ति के रूप में उदय और फिर तुरन्त बाद बिखराव, नक्सलवादी और श्रीकाकुलम का लोभ हर्षक विस्फोट, ७१ के आम चुनाव में इन्दिरा लहर का करिश्मा आदि सभी प्रमुख घटनाएँ हैं जो सातवें दशक की उथल-पुथल का चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। गुजरात और बिहार आन्दोलन की पृष्ठभूमि में यही परिस्थितियाँ उपस्थित थीं।

संसद और विधान सभा जो पवित्र स्थान समझे जाते थे वहाँ जूते और चप्पलों का रिहर्सल भी किया जाने लगा, गाली-गलौज तथा दर्शक दीर्घाओं से पर्चेबाजी केवल विरोध के लिए ही नहीं कही जा सकती उसमें कुछ देश की राजनीतिक अदूरदर्शिता का भी हाथ है। पंचशील भाई-भाई का नारा तथा अहिंसा समय की गति के साथ नहीं चल सके। एक दशक में तीन-तीन युद्धों ने भारत के राष्ट्रीय जीवन को बहुत प्रभावित किया है। साम्यवादी दल का विभाजन हिन्दू मुस्लिम सम्बन्धों में तनाव, बढ़ती हुई मँहगाई तथा शिथिल अर्थ व्यवस्था आदि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में इन युद्धों की ही देन है। "आज इन्हीं युद्धों का प्रभाव है कि गांधी की अहिंसा के सम्मोहन में फँसा यह देश आज हिंसा को अन्तिम रूप से त्याज्य नहीं समझता। यह वैचारिक धरातल पर एक क्रान्ति ही है, जो युद्ध के बिना घटित होने के लिये निश्चित ही अनेक वर्षों का दौर मांगती है।"[1]

२. सामाजिक परिस्थितियाँ—

भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् उसके सामाजिक संगठन एवं विचार-धाराओं में परिवर्तन का दौर प्रारम्भ हुआ। सामाजिक विचारधाराओं, रीति-रिवाज स्पष्ट हुए जब कि सामाजिक व्यवस्था की गति प्राय: उत्साहजनक

---

१. सचेतना (त्रैमासिक) सितम्बर ६६ हिन्दी कहानियाँ नवलेखन की सहजता —नरेन्द्र कोहली, पृ० ३५–३६।

नहीं रही। सामाजिक व्यवस्था समाज की आर्थिक प्रणाली पर आधारित होती है अतः जब तक आर्थिक प्रणाली में बदलाव की स्थिति न आयेगी तब तक सामाजिक व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन असंभव है। परतन्त्रता के लम्बे समय से सामाजिक व्यवस्था जिस दौर से गुजर रही थी उसमें कुछ विघटन के बावजूद ज्यों की त्यों आज भी देख सकते हैं। 'आजादी के बाद भारतीय संविधान में अपने भविष्य की जो तस्वीर देखी, वह परम्परित, पितृ-सतात्मक और कर्षक समाज से भिन्न आधुनिक बौद्धिक, औद्योगिक, तंत्रात्मक और समाजवादी जनतन्त्रवादी समाज की तस्वीर है। यह समाज एक ओर सामुदायिक जीवन की आन्तरिक प्रेरणाओं का समाज होगा और दूसरी ओर व्यक्ति को पूरी तरह स्वतन्त्रता देने वाला। वास्तविकता यह है कि संविधान द्वारा प्रचारित यह समाज भारत में स्थापित नहीं हुआ।"[1] इस काल्पनिक समाज का स्थान लिया एक ऐसे अजीब मिश्रित समाज ने जिसमें एक ओर पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था की समस्त बुराइयाँ हैं तो दूसरी ओर इस पर समाजवादी पैवंद भी लगे हैं। देश के दिशा निर्देशकों ने सामाजिक सन्दर्भों की अपेक्षा तो की ही तथा साथ ही राजनैतिक दाँव-पेचों से जनता के सामाजिक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तनों की विचारधाराओं को भी पंगु बना दिया है। सातवें दशक में सामाजिक परिस्थितियों में इतना परिवर्तन आया कि इससे पहले शायद इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। यह परिवर्तन अनेक क्षेत्रों से गुजरता हुआ आया यथा—नारी स्वातन्त्र्य, युवा पीढ़ी का आक्रोश, मध्यम वर्ग की भूमिका, जाति व्यवस्था, परिवार में विघटन एवं सांस्कृतिक अवमूल्यन आदि।

स्वतन्त्रता के पश्चात् स्त्रियों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के अनेक उपाय किये गये। हिन्दू स्त्रियों को बिल के द्वारा स्त्रियों और पुरुषों के अधिकारों में समानता का प्रावधान किया गया है। तलाक को कानूनन वैध घोषित कर नारी स्वातन्त्र्य को बल मिला। पैत्रिक सम्पत्ति में भी नारी को अधिकार मिला है। अब नारी पुरुष की तरह किसी को भी गोद ले सकती है। बहुपत्नीत्व प्रथा पर रोक लग जाने से नारी को सम्मान के साथ-साथ सुरक्षा भी प्रदान हुई है। बाल-विवाह तथा दहेज प्रथा जैसी कुप्रथाओं पर भी सरकारी तथा गैर सरकारी नियन्त्रण हो जाने से स्त्रियों की दशा में सुधार

१. 'कल्पना' अगस्त ६७, लेख—परम्परा और आधुनिकता —सुरेन्द्र चौधरी पृ० ३२।

हुआ है। इन समस्त बातों का परिणाम यह हुआ है कि नारी सम्बन्धी पुरानी मान्यताएँ और धारणाएँ बदल गई तथा उनका स्थान नये मूल्यों ने ले लिया। अब नारी पर पुरुष के स्वामित्व का मूल्य विघटन की ओर है। अब शिक्षित भारतीय नारी पुरुष को 'देवता' न मानकर जीवन साथी अथवा 'मित्र' मानने में अधिक सचेष्ट है। स्त्रियों में शिक्षा के कारण उनके कार्य क्षेत्र में अधिक परिवर्तन हुआ है। आज प्रत्येक विभाग में स्त्रियों को नोंकरी करते देखा जा सकता है। शिक्षा का ही प्रभाव है कि पर्दा जैसी कुप्रथा को भी स्त्री ने अस्वीकार कर दिया। परन्तु देश की नारियों का एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसा है जो आज भी अपनी अशिक्षा, पारिवारिक तथा सामाजिक दबाव संस्कारों के द्वारा पुराने मूल्यों, सतीत्व, पुरुष के एकाधिकार तथा आर्थिक परतन्त्रता आदि को अपनी नियति मान बैठा है। आज नारी के लिये प्रेम विवाह, अन्तर्जातीय विवाह के मार्ग खुले हुए हैं। 'गर्भ निरोधक कानून के अनुसार अब कुमारियाँ भी मातृत्व ग्रहण कर सकती हैं। आजकल नारियों में स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने के लिए विवाह न करने की प्रवृत्ति भी देखी जा सकती है।

नारी को इतनी सामाजिक सुरक्षा प्रदान की गई, परन्तु आज भी एक आम भारतीय का विचार वही पुरातनपंथी है जिसमें नारी को सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं है। यह प्रवृत्ति गाँवों में अधिक पाई जाती है। नगरों की स्थिति में कुछ गतिशीलता के लक्षण देखे जा सकते हैं। फिर भी यह निश्चित है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में स्वतन्त्रता और समानता के मूल्य विकसित होने से नारियों की स्थिति में बदलाव आया है।

सन् ६० के पश्चात् के सामाजिक परिवेश का अध्याय युवकों की चर्चा किये बिना अधूरा ही रह जाता है। युवकों की जिस पीढ़ी ने स्वतन्त्रता के पश्चात् जन्म लिया और जो स्वतन्त्रता के बाद ऐसे सामाजिक पर्यावरण में वयस्क हुई है जिसमें एक ओर स्वार्थ, भ्रष्टाचार और अनीति का बोलबाला है, दूसरी ओर वैचारिक और सैद्धान्तिक अराजकता पनपती गई है, उसने पुरातन मूल्यों के प्रति अपना तीव्र आक्रोश व्यक्त किया है। स्टीवैन जे० केल्मेन के शब्दों में आज के नवयुवक का सूत्र वाक्य है : 'आई एम यंग एण्ड आई लाइक टू लिव माई एज' और आज के विज्ञान और टैक्नोलोजी के युग में वह एक ऐसी दुनियाँ बनाने में संलग्न है जिससे पुरानी पीढ़ी अपरिचित है। वह ऐसी

दुनियाँ का सपना देख रहा है, जो मूढ़ाग्रहों से मुक्त होगी, जहाँ निष्क्रिय परम्पराओं का उन्मीलन कर दिया गया होगा, जहाँ भूख पर प्रहार किये जायेंगे, जहाँ उन्मुक्त सैक्स (अश्लील नहीं) होगा। जहाँ निरक्षरता, बीमारी और भेदभाव का लेशमात्र भी न होगा—जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तर-दायित्यों के प्रति जागरूक होगा, उसका व्यक्तित्व गरिमापूर्ण होगा और जहाँ विज्ञान समस्त नैतिक वातावरण प्रतिफलित होगा।'[1]

युवकों का यह आक्रोश देश के गलत और गलित राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सन्दर्भों की देन है। उचित नेतृत्व और सही मार्ग-दर्शन के अभाव में यह आक्रोश प्राय: गलत रास्तों पर भटक जाता है। क्योंकि "चारित्रिक पवित्रता, त्याग, सेवा, आस्था, प्रेम, विश्वास, आदर्श, धर्म आदि शब्द आज अपना मूल्य खो चुके हैं। नई पीढ़ी को इनमें विश्वास नहीं रह गया है क्योंकि स्वयं शब्दों को सार्थक बनाने वाले ही आज उसका मखौल उड़ा रहे हैं। दुहरी रीति-नीति और जीवन में जागरूक पीढ़ी को अधिक दिनों तक भरमाया नहीं जा सकता।'[2] लम्बे बाल, चरस, एल० एस० डी० यौन मुक्तता से जुड़ी युवा पीढ़ी की दिशाहीनता कभी-कभी इतना विकृत रूप धारण करती है कि केवल सिनेमाघरों पर धरना देकर टिकट सस्ता कराने को ही वह जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य समझ बैठती है। "सड़कों, चौराहों, बसों पर लड़ने-झगड़ने का ही मूल्य स्वतन्त्रता के बाद के युवकों में विकसित हो पाया।"[3] जिस युवा शक्ति का उपयोग राष्ट्र निर्माण में होना चाहिए था, वह अँग्रेजों की उपेक्षा से असन्तुष्ट होकर तोड़-फोड़ के कार्यों में लगी हुई है। शिक्षित युवकों की बेकारी भी युवा असन्तोष का एक कारण है विभिन्न राजनीतिक दलों ने भी अपने दलगत स्वार्थों के लिए स्तेमाल करके उनमें पारस्परिक वैमनस्य और संघर्ष को जन्म दिया है।

युवा पीढ़ी की चेतनाशीलता की शुरुआत पारिवारिक दंभ सामाजिक खोखलेपन और राजनीतिक विसंगतियों की पहचान से होती है। परिवेश की सही पहचान उसके विद्रोह की भूमिका बनती है। 'नई पीढ़ी की चेतना का उदय व उसके निर्माण की सीढ़ियाँ ऐसी जिन्दगी में शरीक हैं, जिसमें निरुद्देश्य,

१. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३९-४० से उद्धृत।
२. आधुनिक काव्य। संदर्भ और प्रवृत्ति —डॉ० गंगाप्रसाद गुप्त, पृ० ४।
३. कल्पना—मार्च-अप्रैल, १९६७ —लक्ष्मीकान्त वर्मा, पृ० ३९।

नुकसानदेह हुल्लड़बाजी बेहद जरूरी लगी है। नियन्त्रण, सहिष्णुता, सहयोग, कर्त्तव्यनिष्ठा जैसे भावों की पूँजी में मंदी आई है। दया, क्षमा, सहानुभूति के मूल्यों में तेज गिरावट आई है और एक नृशंस अपराधवृत्ति के अहसास की मजबूरी ने न्याय बुद्धि को मृत बना दिया है। सारे संदर्भ उलट गए हैं।"[१] ऐसी अराजक स्थिति में आवश्यक है कि युवा पीढ़ी की समस्याओं को गम्भीरता से लिया जाय और युवा शक्ति का रचनात्मक उपयोग किया जाय।

भारत में संयुक्त परिवार भारत की भूमि प्रधान आर्थिक व्यवस्था की देन है। अधिक संख्या वाला परिवार खेती पर श्रम विभाजन का अधिक लाभ उठा सकता है, इस दृष्टि से एक परिवार के सदस्य साथ ही साथ रहना पसन्द करते हैं। किन्तु औद्योगीकरण, जनसंख्या में वृद्धि, नगरीकरण, यातायात की सुविधा तथा नारी शिक्षा के प्रसार से संयुक्त परिवार को गम्भीर चुनौतियाँ मिली हैं और उनका विघटन प्रारम्भ हो गया है। हालांकि अभी भारतवर्ष में पाश्चात्य ढङ्ग के आणविक परिवार, जो पिछली पीढ़ी से सर्वथा असंबद्ध होते हैं, लोकप्रिय नहीं हैं फिर भी यह निश्चित है कि संयुक्त परिवार आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में टिक नहीं पायेंगे। आधुनिक परिवार की अवधारणा अब केवल पति-पत्नी तथा नाबालिग सन्तानों तक सीमित रह गयी है। "संयुक्त परिवारों में प्रत्येक व्यक्ति अधिकतम विकास नहीं कर सकता, न प्रत्येक व्यक्ति अधिकतम स्वतन्त्रता का भोग कर सकता है। परिवार मर्यादा (नार्मस्) पर चलते हैं और अपनी सम्भावनाओं के प्रति जागरूक व्यक्ति केवल मर्यादा के लिये अपना जीवन एक घेरे में बन्द नहीं कर सकता।"[२] अतः समाज में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति विकसित हुई है जिससे तालमेल न बिठा सकने के कारण संयुक्त परिवारों का विघटन हो रहा है। यह विघटन केवल नगरों तक ही सीमित नहीं है, गाँवों में भी सीमित परिवारों की संख्या अच्छी खासी है। संयुक्त परिवारों के विघटन से सम्बन्धों में तनाव और परिवर्तन का स्वर मुखर हुआ है और सम्बन्धों की टूटन ने जीवन-मूल्यों के संक्रमण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

---

१. समकालीन कहानी दिशा दृष्टि (सं० धनंजय) —लेख "हिन्दी साहित्य के पिछले बीस वर्ष" —हृषीकेश, पृ० ४१।

२. हिन्दी वाङ्मय : बीसवीं शती (सं० डॉ० नगेन्द्र) डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० ६१।

परम्परागत पारिवारिक सन्दर्भों में बदलाव के परिणामस्वरूप मूल्यों में परिवर्तन स्वाभाविक है।'[१]

जिस श्रम विभाजन के आधार पर जाति व्यवस्था का गठन हुआ था, स्वतन्त्रता के बाद नवीन औद्योगिक आर्थिक प्रणाली के विकसित होने तथा नये नये पेशों के जन्म लेने के साथ वह आधार खण्डित हो गया। स्वतन्त्रता के बाद यह देखने में आया कि उपजातियों के बन्धन तो समाप्त होने लगे परन्तु बड़ी जातियाँ संगठित होने लगी। चुनाव की राजनीति ने जातिवाद को बढ़ावा दिया। आज स्थिति यह है कि छुआछूत और खानपान सम्बन्धी नियम सीतिल हो चुके है परन्तु जातिवाद का विष हमारी सामाजिक व्यवस्था की नसों में फैलता जा रहा है। अस्पृश्यता को लेकर निम्न वर्ग को जिस अन्याय और यातना से गुजरना पड़ता था, ५५ के अश्यपृश्यता (अपराध) अधिनियम के द्वारा उस पर रोक लगा दी गई है। अनुसूचित जातियों एवं पिछड़े वर्गों को शिक्षा, नौकरी आदि में विशेष सुविधाएँ प्राप्त हैं। अनेक सामाजिक संस्थाओं ने हरिजनों तथा अन्य कमजोर वर्गों के प्रति सवर्ण के विचारों और धारणाओं को बदलने के प्रयास किये हैं। किन्तु समस्त सरकारी और गैर सरकारी प्रयत्नों के बावजूद जाति व्यवस्था टूटी नहीं है। आज शिक्षित मध्यम वर्ग जाति व्यवस्था को विघटित होने देने के पक्ष में नहीं है। जिस मध्यवर्ग ने कभी जाति व्यवस्था को तोड़ने में पहल की थी, आज वही अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए उसका आश्रय ले रहा है। युवा पीढ़ी में किसी भी प्रकार के जातिवाद की अस्वीकृति मिलती है। जाति व्यवस्था के आंशिक विघटन के परिणाम भी शुभ हैं। शोषण, उत्पीड़न, संघर्ष, कुल गौरव और असमानता आदि रूढ़ धारणाओं के स्थान पर बन्धुत्व, समानता, एकता आदि मूल्यों की स्थापना की सम्भावनाएँ बढ़ी हैं।

स्वतन्त्रता के बाद के सामाजिक परिवर्तनों में मध्यवर्ग की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है। परम्परा और आधुनिकता के द्वन्द्व और सामंजस्य को व्यापक और स्पष्ट रूप में मध्यवर्गीय जीवन के परिप्रेक्ष्य में देखा और समझा जा सकता है। किन्तु यह एक कटु सत्य है कि स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्र निर्माण में मध्यवर्ग का जितना योगदान अपेक्षित था उतना नहीं मिला। या यों कहें कि उनका सहयोग लिया ही नहीं गया। ये दोनों ही स्थितियाँ

---

१. समकालीन हिन्दी साहित्य (संपादित) डॉ० हेमेन्द्र पानेरी, पृ० १०१।

उत्साहजनक नहीं हैं। समाज के उच्चवर्ग और निम्नवर्ग की मानसिकता में स्वतन्त्रता के बाद कोई खास बदलाव नहीं आया है, लेकिन मध्यवर्ग पर परिवर्तन का दबाव अधिक रहा है। इस दबाव के परिणामस्वरूप मध्यवर्ग के दो टुकड़े हो गये हैं। एक टुकड़ा अनावश्यक रूप से पाखण्डी है और दूसरा आशातीत रूप में चिन्तित और भयाक्रान्त। इसके बीच मध्यवर्ग का एक बहुत बड़ा हिस्सा है जो जीवन के परिवर्तन की हर दिशा को केवल स्वीकार करना जानता है, वह किसी भी रूप से संलग्न नहीं है।"[१] लेकिन मध्य वर्ग का ऐसा हिस्सा भी है जिसकी जीवन दृष्टि आधुनिक है और जो अपने तथा दूसरों के अधिकारों के प्रति जागरूक है। यह मध्यवर्ग परम्परा के प्रति अनुदार रुख अपनाते हुए देश में क्रान्तिकारी परिवर्तनों के पक्ष में है। नैतिकता, राष्ट्रीयता, समाजसेवा, परोपकार आदि के मुखौटे के पीछे छिपे चेहरों की वास्तविकता को इस वर्ग ने समझ लिया है, इसलिये इससे सम्बद्ध मूल्यों को नकारने में उसे कोई हिचक नहीं है।

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय जन-जीवन पर पाश्चात्य सभ्यता का दबाव बढ़ा है, सांस्कृतिक परम्पराओं और मूल्यों के प्रति उपेक्षा का भाव विकसित हुआ है "भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन तो बाद में हुआ, भारतीय संस्कृति का अवमूल्यन स्वतन्त्रता के बाद तुरन्त ही हो गया। भारतीय संस्कृति, स्वीकरण और विकास के स्थान पर उन्हें पिछड़ा प्रतिगामी करार देकर उनके प्रति अश्रद्धा की भावना फैलायी गई।"[२] आधुनिकता के नाम पर क्लब, काफी हाउस, रेस्तरां और डिस्कोथोक की जो तथाकथित संस्कृति जन्म ले चुकी है, उच्छृङ्खलता, फैशन मद्यपान, यौनमुक्तता आदि उसके अनिवार्य अंग हैं। महानगरों में इस नकली आधुनिकता से प्रभावित लोगों की संख्या अच्छी खासी है भारतीय संस्कृति के प्रति एक दूसरा अतिवादी दृष्टिकोण भी है जिसमें 'भारतीयता' और 'आध्यात्मिकता' की आड़ में जड़ और निरर्थक मूल्यों की वकालत की गई है। इस विचारधारा के लोगों ने अंधविश्वासों और रूढ़ियों को ही संस्कृति का पर्याय लिया है। इन विचारों के लोग वर्तमान आर्थिक ढांचे और सामाजिक संगठन में होने वाले प्रत्येक सुधार अथवा परिवर्तन का विरोध करते हैं। वास्तव में भारतीय संस्कृति के जो अङ्ग अपनी सार्थकता खो चुके हैं, उनके प्रति किसी प्रकार का 'पूर्वाग्रह' या

१. 'कल्पना' अगस्त ६७, परम्परा और आधुनिकता-सुरेन्द्र चौधरी, पृ० ३३।
२. 'कुछ चन्दन की कुछ कपूर की' —विष्णुकान्त शास्त्री, पृ० २३०।

'मोह' श्लाघ्य नहीं हैं। संस्कृति का अर्थ है समग्र जीवन का संस्कार दर्शन। इसमें रस रुचि, शीलाचार, व्यवहार आदि सभी कुछ समाहित हो जाते हैं और इन सारे विषय खण्डों की पृष्ठभूमि में निहित संस्कार परम्परा का ही नाम संस्कृति है।[१] इस समूची संस्कार परम्परा की अवहेलना अथवा उपेक्षा ही आज की आधुनिकता की पहली शर्त है। धर्म की साम्प्रदायिक व्याख्या, वर्ण-व्यवस्था सदृश्य सामाजिक रूढ़ियों तथा नारी, शूद्र आदि के प्रति पुरातन पन्थी पूर्वाग्रहों का विरोध एक स्वस्थ्य प्रशस्ति है परन्तु परम्परा का सर्वथा अस्वीकार वांछनीय नहीं है।

इन कुछ लोगों ने जन-संस्कृति या 'श्रमिक संस्कृति' के इर्द-गिर्द सोचना प्रारम्भ कर दिया है। लेकिन मात्र श्रमिक सस्कृति को लेकर भविष्य की समाजवादी संस्कृति नहीं गढ़ी जा सकती है। लेनिन ने स्वीकार किया था "वह समूची संस्कृति जो पूँजीवाद हमारे लिये छोड़ गया है, स्वीकार करनी ही होगी और उसी के माध्यम से (उसी के भीतर से) समाजवादी संस्कृति की रचना की जायेगी। सारा विज्ञान, इन्जीनियरिंग, सारा ज्ञान, समूची कलात्मक ऋद्धि, सब कुछ को ले लेना होगा। हमें इस बात को स्पष्टतापूर्वक समझ लेना चाहिए कि मनुष्य समाज की सम्पूर्ण विकासधाराओं के मध्य विकसित संस्कृति का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर ही और फिर इसी संस्कृति को पुनः खराद देकर ही हम समाजवादी संस्कृति की रचना कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।"[२]

आर्थिक परिस्थितियाँ—

नेहरू युग की अर्थनीति की यह विशेषता थी कि उसमें मिश्रित अर्थ व्यवस्था स्वीकार की गई थी। उद्योगों के लिये निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र का विभाजन किया गया। निजी क्षेत्र को सरकार द्वारा नियन्त्रित करने का प्रावधान किया गया तथा सरकारी क्षेत्र के संचालन के लिए सरकारी निगमों की स्थापना की गयी। "इस नीति का रोचक पक्ष यह है कि उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन गैर सरकारी क्षेत्र को सौंप दिया गया और लाभ उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन से अधिक होता है। सरकारी क्षेत्र में नौकरशाही प्रबल हो गयी। अतएव उनमें या तो घाटा रहा या फिर अल्प लाभ मिला।"[३]

१. विषादयोग —कुबेरनाथ राय, पृ० २०८।
२. वही, पृ० २०३ के आधार पर।
३. हिन्दी वाङ्मय : बीसवीं शती (सं० डॉ० नगेन्द्र) डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० ७६।

इसके परिणामस्वरूप निजी क्षेत्रों पर सरकार के नियन्त्रण के बजाय सरकार पर पूँजीवादी निजी क्षेत्रों का दबाव पड़ने लगा। आज निजी क्षेत्रों से कमाया गया "काला धन" विधान सभा और संसद के सदस्यों अफसरों और नेताओं को भ्रष्ट करने के साथ-साथ देश की अर्थ व्यवस्था को कमजोर करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

समाज के आर्थिक ढांचे को सुधारने के लिए जो पंचवर्षीय योजनाएँ बनाई गई उनसे समाज के मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग को लाभ लाभ नहीं हुआ है। मूल्य वृद्धि के अनुपात में आय न बढ़ने के कारण ये वर्ग बुरी तरह प्रभावित हुए हैं। सामुदायिक विकास तथा अन्य योजनाओं का पूरा लाभ नौकरशाही के भ्रष्टाचार के कारण जन-साधारण तक नहीं पहुंच सका है।[1] पंचवर्षीय योजनाओं के परिप्रेक्ष्य में देश की आर्थिक प्रगति का जो चित्र उभरता है वह भयावह और निराशाजनक है। कृषि प्रधान देश होते हुए भी हमें अब तक अनाज के लिए विदेशों के आगे हाथ पसारना पड़ा है।

देश की आर्थिक स्थिति में विदेशी पूंजी भी बाधकतत्व रही सभी देशी विदेशी प्रतिष्ठानों में उत्पादन वृद्धि हुई है, परन्तु वितरण और उपभोग के स्तर पर शोषण भी बढ़ता गया है। योजनाओं की विफलता और विदेशी पूँजी के दबाव का प्रत्यक्ष दुष्परिणाम यह हुआ कि देश को विदेशों की दया पर निर्भर होने के लिये बाध्य होना पड़ा है। "स्वतन्त्रता के बाद के भारतीय इतिहास के अध्याय का सिर्फ एक ही शीर्षक हो सकता है—शर्मनाक भिक्षाकाल।"[2] सम्पन्न देशों से अधिक कर्ज पाने की वह याचक मुद्रा आज भी ज्यों की त्यों है। आज भारत पर कई हजार करोड़ रुपये का ऋण है। विदेशी सहायता किसी न किसी स्वार्थ विशेष से सम्बद्ध होने के कारण प्रायः हानिकर सिद्ध होती है। इसके खतरनाक प्रभावों में एक यह है कि सारे देश में एक प्रकार की हीन भावना विकसित हो गयी है। इस हीन भावना के चलते देश का मनोबल, संकल्प, शक्ति और उसका आत्मबल भी विघटित हुआ है।

---

१. आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य (प्रथम संस्करण) डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र, पृ० ३१८।

२. 'माध्यम' (मासिक) जून १९६६ 'सामयिक भारतीय परिवेश और बौद्धिक वंचना' —डॉ० शिवप्रसादसिंह, पृ० १६।

देश को कृषि और औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में आत्म-निर्भर बनाने के लिए योजनाओं के माध्यम से जो प्रयास किये गये हैं, वे सभी असफल ही सिद्ध हुए हों ऐसी बात नहीं है। देश के ग्रामीण और नागरिक जीवन में आंशिक खुशहाली तो प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। गाँवों में जमींदारी उन्मूलन, सामुदायिक विकास, कार्यक्रमों, हरित क्रान्ति आदि के शुभ परिणाम सामने आये हैं। सिंचाई की सुविधाओं और यातायात के विकास के साधनों ने गाँवों को आर्थिक दृष्टि से समुन्नत होने में योग दिया है। औद्योगीकरण ने नागरिकों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने में सहायता की है। भूख और बेकारी पर नियन्त्रण पाने में वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति बहुत कुछ सहायक होती है किन्तु भारत की मिलों और कारखानों ने अपने उत्तरदायित्वों को गम्भीरता से नहीं लिया और इनके माध्यम से 'पूँजी के एकाधिकार' और 'श्रमिकों के शोषण' को ही प्रश्रय मिलता रहा है। आज देश की आर्थिक नीति नोंकरशाही थैलीशाही और राजनेता के स्वार्थ-शिकंजे में है इसके फलस्वरूप देश में गरीबी और असमानता बढ़ी है। स्वार्थ, विलास और खुशामद के जीवन-मूल्य लोकप्रिय हुए हैं। आर्थिक कार्यक्रमों से असमानता और बेरोजगारी का दायरा कुछ और चौड़ा हुआ है। एक सामान्य और ईमानदार आदमी के लिये जीना आसान नहीं रह गया है। '६६' में रुपये के अवमूल्यन के निर्णय से देश की आर्थिक विषमता का अनुमान लगाया जा सकता है। मुद्रास्फीति और मँहगाई के विस्तार को ध्यान में रखते हुए यह अनावश्यक नहीं है कि राष्ट्र की अर्थनीति पर पुनर्विचार किया जाय और इसके ढाँचे में जो गड़बड़ी है उसे अविलम्ब दूर किया जाय।

देश की आर्थिक प्रगति को बढ़ती हुई जन संख्या और अशिक्षा की चुनौतियाँ कम गम्भीर नहीं हैं। परिवार नियोजन के कार्यक्रम के द्वारा जनसंख्या की रोकथाम का प्रयास अभी तक अपेक्षित सफलता नहीं प्राप्त कर सका है लेकिन शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ इसकी सफलता की सम्भावनाएँ बढ़ी हैं। शिक्षा किसी भी प्रजातान्त्रिक देश की प्रगति का मूलाधार है। "बिना उपयुक्त शिक्षा के प्रजातन्त्र सफल नहीं हो सकता। इससे एक स्वतन्त्र देश के नागरिक का व्यक्तित्व ही उसकी अपनी योग्यता के अनुसार विकसित नहीं होगा, वरन् उसमें अनुशासन की भावना और कार्य-कुशलता भी उत्पन्न होगी।"[1] अतः स्वतन्त्रता के बाद से ही सरकार ने शिक्षा की ओर विशेष

१. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी-साहित्य का इतिहास —डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय पृ० ७५।

ध्यान दिया है लेकिन शिक्षा पद्धति में कोई आमूल-चूल परिवर्तन न होने से शिक्षा नीति अधिक कारगर नहीं हुई। हालांकि देश में शिक्षा का प्रसार बढ़ा है नये-नये विश्वविद्यालय स्थापित किये गये हैं। वैज्ञानिक शिक्षा, कृषि उद्योग की शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, पत्राचार पाठ्यक्रम आदि की ओर विशेष ध्यान दिया गया है, फिर भी शिक्षा का व्यवसाय से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने के कारण देश में शिक्षित बेकारों की संख्या तेजी से बढ़ती जा रही है। अभी तक शिक्षा के नाम पर देश में लाखों युवकों के साथ खिलवाड़ ही अधिक हुआ है। स्नातकों की बढ़ी हुई संख्या के अनुसार देश का आर्थिक जीवन व्यवस्थित न होने के कारण बेकारी की समस्या का समाधान कठिन हो गया है।

सन् ६० के पश्चात् देश की राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों ने जिस परिवेश को जन्म दिया उसने जन-साधारण के साथ साहित्यकारों को भी प्रभावित किया। उनके दृष्टिकोण का यह बदलाव हमें उनकी कृतियों में मिल जाता है। सन् ६० के आस-पास हमारा सभी तरह से मोह भंग हुआ जितनी आशाएँ हमने संजोयी थीं सभी टूटकर जैसे बिखर गईं। नई पीढ़ी समय के साथ दौड़ में पिछड़ गई और उसमें एक निराशा की भावना घर कर गई। आर्थिक दुरवस्था और बेरोजगारी ने आर्थिक दृष्टि से त्रस्त और महानगरों के फुटपाथों, चलती-फिरती लाशों और झुग्गी झोंपड़ियों के बीच धुएँ, सड़ा एव घुटन के बीच जिये जाने वाले जीवन के दृश्यों ने, मँहगाई ने, पदलोलुप भ्रष्ट नेताओं ने युवा पीढ़ी को कुण्ठा और निराशा का शिकार बना दिया है। देश में फैली आपस की फूट ने उसके जीवन में उदासी भर दी है। इस राजनीतिक व्यवस्था के खोखलेपन, सामाजिक असफलता और आर्थिक कमजोरी के स्वर सातवें दशक की कविता में निर्ममता के साथ मुखरित हुए हैं।

निष्कर्ष—

स्वतन्त्रता के पश्चात् पहली बार राष्ट्रीय मोहभंग सातवें दशक के प्रारम्भ में चीनी आक्रमण के समय हुआ। राजनीतिक स्तर पर स्वतन्त्र भारत की असफलताओं का खुलासा इस समय हो गया। भारतीय राजनीति दलगत स्वार्थों में फँसी रही। राजनेता पदलोलुपता की कीच में बुरी तरह फँस गए। भारत की विदेश नीति भी असफल रही। योजना, चुनाव, संसद तथा सांसद सभी को अविश्वास की दृष्टि से देखा जाने लगा। सामाजिक क्षेत्र में भी स्त्री स्वातन्त्र्य, संयुक्त परिवारों का विघटन, युवा वर्ग की

समस्या आदि ने हमारी सामाजिक व्यवस्था को बुरी तरह प्रभावित किया। देश में सुशिक्षित बेरोजगारों की बढ़ती हुई लाइनें सामाजिक जीवन के लिए कलह का कारण बनी। आर्थिक परिस्थितियाँ भी इतनी भयभीत रहीं कि हम इस क्षेत्र में आत्म-निर्भर नहीं हो सके। भारत का मध्यवर्ग तथा निम्न मध्यवर्ग गरीबी के चंगुल से न छूट सका। इन सभी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की असफलता के फलस्वरूप चारों ओर अशान्ति तथा भ्रष्टाचार पनपा। हमारा सांस्कृतिक अवमूल्यन भी इन्हीं असफलताओं के कारण हुआ। कुल मिलाकर सातवें दशक में हमारा परिवेशगत वातावरण ऐसा था जिसमें आदमी हताश, निराश और विद्रोही था। भारत की इन असफलताओं ने युवा वर्ग की मानसिकता को बहुत प्रभावित किया।

(ग) समकालीन वैचारिकता—

स्वतन्त्र भारत में जिस सर्वाङ्गीण विकास की आशा थी उसमें से राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक मोर्चों पर हम असफल ही अधिक रहे। हम अपने ही स्वतन्त्र घर में परतन्त्रता का अनुभव करने लगे। पूँजीवादी व्यवस्था ने हमारे सामाजिक जीवन को जकड़ लिया इसके फलस्वरूप आज तक भी मध्यवर्ग विकास के साथ नहीं चल सका। व्यक्ति स्वयं तथा समाज में रहकर भी अपने को असुरक्षित समझने लगा। देश में फैली अराजकता, अनुशासनहीनता, भ्रष्टता तथा अवसरवादिता ने मानव की मानसिक चेतना को झकझोर दिया। मनुष्य की इस चेतना को भारतीय, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिवेश ने तो प्रभावित किया ही, साथ ही साथ इसे अधिक प्रश्रय दिया मार्क्सवादी एवं अस्तित्ववादी विचारों ने यह दोनों ही विचारधाराएँ वैसे बहुत पहले ही विश्व इतिहास में देखने को मिलती हैं, परन्तु स्वतन्त्र भारत में इनका प्रभाव यहाँ के जन-जीवन पर अधिक देखने को मिलता है।

मार्क्सवादी विचारधारा—

मार्क्सवाद एक वैज्ञानिक विचारधारा है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद जिसके दो प्रमुख आधार स्तम्भ हैं। उन्नीसवीं शती में जन्मे और पुष्ट हुए इस भौतिकवादी जीवन दर्शन की बुनियाद रखने का श्रेय कालमार्क्स को है, हालांकि इसके निर्माण में फ्रेडरिक एंगेल्स का योगदान भी कम नहीं है। "१९वीं शताब्दी में जिस अव्यवस्थित ढङ्ग से औद्योगीकरण हुआ और उसके फलस्वरूप समाज में जिन भयंकर कष्टों की सृष्टि हुई, उसकी

उपजाऊ भाव-भूमि में मार्क्स का उदय वंचित वर्ग के सर्वाधिक सबल मसीहा के रूप में हुआ।"[1] मार्क्स ने न केवल राजनीति और समाज, अपितु साहित्य तथा कला के बारे में भी एक नयी समझ और नयी दृष्टि प्रदान की है।

हेगल ने द्वन्द्ववाद का उपयोग अपनी भाववादी चिन्तना के सन्दर्भ में किया है जब कि मार्क्स ने इसे भौतिकवादी सन्दर्भों में अपनाकर सृष्टि और समाज के विकास नियमों की वैज्ञानिक व्याख्या की है। मार्क्स सृष्टि का एकमात्र तत्व पदार्थ या मैटर को मानता है। ईश्वर अथवा ब्रह्म सरीखे किसी तत्व के अस्तित्व में उसे विश्वास नहीं। मार्क्स के अनुसार प्रत्येक पदार्थ में विरोधी तत्वों का संगम होता है और इन्हीं तत्वों के द्वन्द्व से परिवर्तन या विकास की प्रक्रिया जन्म लेती है। विरोधी तत्वों का संघर्ष उनमें निहित अन्तर्विरोधों के फलस्वरूप होता है। इन विपरीतों की एकता जहाँ सापेक्ष अस्थायी और सशर्त होती है वहाँ उनका संघर्ष स्थायी रहता है इस प्रकार "अधिभौतिक दृष्टिकोण के विपरीत, जो विकास को किन्हीं बाहरी शक्तियों से परिचालित मानता है, द्वन्द्ववादी दृष्टि विकास के मूल में वस्तु में निहित विपरीतों की एकता तथा संघर्ष को स्वीकृति देती है।"[2] द्वन्द्ववाद पुराने तत्वों के निषेध से भी सम्बद्ध है। मार्क्स के अनुसार किसी भी क्षेत्र में तब तक विकास नहीं हो सकता जब तक कि वह अपने अस्तित्व के पुराने रूपों का निषेध न करे। इस निषेध का अर्थ पुरातन का समूल विनाश नहीं है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियम सामाजिक जीवन के अध्ययन के क्रम में ऐतिहासिक भौतिकवाद के द्वारा ही अपनी सार्थकता और संगति को प्रमाणित कर पाते हैं "इस सिद्धान्त का मौलिकतत्व यह है कि मनुष्य के जीवन के लिए भोजन पहली आवश्यकता है, उसका जीवित रहना इस बात पर निर्भर है कि वह प्रकृति के साधनों से अपने लिए कितनी भोजन सामग्री प्राप्त कर सकता है अतः मनुष्य के सब कार्यों में भोजन सामग्री या आहार का उत्पादन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।"[3] मार्क्स ने प्रवृत्ति की भाँति समाज के अस्तित्व या

---

१. राजनीतिक शब्दावली —डब्ल्यू० जे० फिशमन, सं० मारिस क्रैन्स्टन (हिन्दी सं० महेन्द्र भारद्वाज) पृ० ५८।

२. मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन : इतिहास तथा सिद्धान्त —शिवकुमार मिश्र पृ० ५०।

३. आधुनिक राजनीतिक चिन्तन —हरिदत्त वेदालंकार पृ० ३०२।

भौतिक जीवन को सर्वोपरि माना है। मार्क्स ने समाज के सम्बन्ध में उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादन सम्बन्धों पर भी चर्चा की है। वह श्रम को मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उत्पादन का महत्वपूर्ण उपादान मानता है। समाज में उत्पादन-विधि के भीतर सम्बन्धों में संघर्ष और परस्पर विरोध रहते हैं जैसे कि आजकल पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग में संघर्ष की स्थिति है। पूँजीपति उत्पादन में सीधा हिस्सा न लेकर उत्पादन के साधनों के स्वामी की हैसियत से उत्पादन पर हावी है। सर्वहारा वर्ग स्थिति के सही बोध और अपनी सामूहिक एकता के आधार पर पूँजीपतियों के एकाधिकार को चुनौती दे रहा है।

मार्क्स का दृढ़ विचार था कि आर्थिक परिस्थितियाँ और आर्थिक कारण ही मनुष्य के भौतिक, नैतिक और सामाजिक जीवन के नियामक है। मानव इतिहास की आर्थिक व्याख्या करते हुए मार्क्सवादियों ने पाँच युगों की कल्पना की है। इनमें से आदिम समाज, दास समाज और सामन्ती समाज के युग बीत चुके हैं, पूँजीवादी समाज विद्यमान है और साम्यवादी समाज की स्थापना का श्रीगणेश हो चुका है। इनमें से हर युग की व्यवस्था पूर्ववर्ती की तुलना में अपेक्षाकृत प्रगतिशील रही है। साम्यवादी व्यवस्था के लागू होने पर वर्ग विहीन समाज की स्थापना होगी, उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व होगा और धन का वितरण लोगों की आवश्यकतानुसार होगा। पूँजीपतियों का खात्मा होकर केवल श्रमजीवियों का वर्ग रह जायेगा। यह परिवर्तन 'क्रान्ति' या 'वर्ग संघर्ष' द्वारा ही सम्भव है।

मार्क्सवाद की उपर्युक्त उपपत्तियाँ स्वतन्त्र भारत की मानसिकता का एक अनिवार्य अङ्ग बन चुकी है। प्रत्येक साहित्यकार ने मार्क्सवाद के दबाव का अनुभव किया है, चाहे वह इससे पूर्णतः असहमत ही क्यों न हो। जन-साधारण के आर्थिक और सामाजिक जीवन-मूल्यों के विघटन और निर्माण में मार्क्सवादी विचारों की भूमिका नगण्य नहीं है।

अस्तित्ववादी चिन्तन—

अस्तित्ववाद को परिभाषा के दायरे में बाँधना सम्भव नहीं क्योंकि अस्तित्ववादी किसी प्रकार की परिभाषा में विश्वास नहीं करते—"परिभाषा देने का अर्थ यह है कि अस्तित्व का ऐसा रूप स्थिर कर लेना जो परिभाषा से सम्बन्धित नियमों द्वारा पूरी तरह अनुशासित रहे जिसका भूत, वर्तमान और

भविष्य उस परिभाषा में सीमित हो जाये। अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य के अस्तित्व की परिभाषा इस रूप में नहीं दी जा सकती क्योंकि मनुष्य के भविष्य के बारे में किन्हीं निश्चित नियमों का निर्माण नहीं किया जा सकता वह मूल रूप से स्वतन्त्र है, इसलिए सभी परिभाषाओं का अतिक्रमण करता है।"[१] अतः परिभाषा का आग्रह त्यागकर अस्तित्ववाद की कुछ स्थूल स्थापनाओं की चर्चा करना ही समीचीन है।

अस्तित्ववाद के प्रवर्त्तन का श्रेय कीकेगार्ड को दिया जाता है। इनके उन्नायकों में फ्रांस के सार्त्र, अलवर्ट कामू एवं जर्मनी के नीत्से और कार्लेयास्पर्स का नाम उल्लेखनीय है। अस्तित्ववादियों का मत है कि मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं विधाता है इसलिए वह सर्वत्र स्वतन्त्र है इसलिए परम्परा, आदर्श और सिद्धान्त उसे स्वीकार्य नहीं क्योंकि वे उसके विकास में बाधक हैं। "अस्तित्ववाद मनुष्य की नेकी, अच्छाई व सच्चाई व उसकी लोक-मंगल की कामना पर भी विश्वास नहीं करता, क्योंकि वह मानता है कि वह अपने निर्णयों में सर्वथा स्वतन्त्र है।"[२] धार्मिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को भी अस्तित्ववाद निरर्थक करार देता है।

आज औद्योगीकरण के युग में मानव का अवमूल्यन हुआ है तथा 'मशीन' ने उसका स्थान ले लिया है। महानगरों का वायुमण्डलीय प्रदूषण, भविष्य की आशंका, वेदना की अनुभूति एवं महायुद्धों की होड़ उसके जीवन में एक असुरक्षा की भावना को जमा देती है तथा उसे अपने अस्तित्व का बोध होने लगा है।

अस्तित्ववाद जीवन के प्रत्येक क्षण के महत्त्व को स्वीकार करता है। शाश्वत या सनातन का आग्रह उसे नहीं है। वह वर्तमान में जीता है लेकिन भविष्योन्मुख होकर। "अस्तित्ववादी मनुष्य जीवित मनुष्य है, वह क्षण-क्षण में जिन्दा रहता है, वह प्रत्येक क्षण अपने आप का पुनर्जीवन करता है। वह प्रत्येक क्षण मूल्य बनाता है और ये सब काम बिना किसी बाहरी आधार के होता है।"[३] क्षण को भोगने की बात करके अस्तित्ववाद प्रवृत्तिमार्गी होने की

१. अस्तित्ववाद —महावीर दाधीच पृ० १८।
२. हिन्दुस्तानी (त्रैमासिक) जनवरी-जून, १९७० —लेख आधुनिकता स्वरूप निर्धारण —रमाशंकर तिवारी पृ० १११।
३. अस्तित्ववाद —महावीर दाधीच पृ० २२।

सूचना देता है और जीवन के यथार्थ से जुड़े रहने की गवाही भी। लेकिन क्षण को महत्व देने का ही परिणाम है कि भोग, अनास्था, अविश्वास, कुण्ठा आदि अस्तित्ववाद के प्रमुख अंग बन गये हैं।

हेगेडर आदि का विचार था कि मृत्यु जीवन की बाधा न होकर उसकी परिपूर्ति है। लेकिन सार्त्र का विचार है, मृत्यु का मूलभूत गुण उसकी निरर्थकता अथवा विसंगति है। मृत्यु विसंगति इसलिए कि कोई भी व्यक्ति इसका सही अनुमान नहीं लगा सकता, बस प्रतीक्षा भर कर सकता है। यह मानव की तमाम सम्भावनाओं का अन्त है। चेतना इच्छायुक्त होती है जबकि मृत्यु सभी इच्छाओं का अन्त है। मृत्यु न आने तक व्यक्ति स्वतन्त्र है। मृत्यु आने के बाद व्यक्ति का अस्तित्व होता ही नहीं। मृत्यु अस्तित्व संकट का चरम क्षण है। इसके साक्षात्कार से व्यक्ति अपने अस्तित्व के महत्व को पहचानता और स्वीकारता है। अस्तित्ववाद के इस मृत्युबोध पर टिप्पणी करते हुए कहा गया है : "अस्तित्ववादी दर्शन की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि वह मृत्यु के सन्दर्भ में जीवन पर विचार करता है उसके अनुसार मृत्यु जीवन के साथ अनिवार्यतः जुड़ी हुई है अतः जीवन अपने लिये कोई भी चुनाव करने या वरण करने को स्वच्छन्द नहीं है।"[1]

सार्वभौम तत्व अथवा ईश्वर को अस्तित्ववाद नकार देता है। कीर्केगार्ड और यास्पर्स ने ईश्वर की सत्ता पर सीधा प्रहार नहीं किया परन्तु सार्त्र आदि परवर्ती चिन्तकों ने 'ईश्वर' की सम्भावना पर प्रश्न चिह्न लगा दिया। सार्त्र ने तो अपने समूचे दर्शन की भित्ति शून्य और नास्ति की नींव पर खड़ी की है।

अस्तित्ववादी दर्शन नये मानव के नये मूल्य तथा नयी मान्यताओं का दर्शन है। अस्तित्ववादी मूल्यों को स्वीकार करते हैं परन्तु इनके मूल्य न तो युग सापेक्ष है न समाज सापेक्ष। वह व्यक्ति सापेक्ष है तथा साथ ही साथ अस्तिर और अनिश्चयात्मक भी है।

मार्क्सवाद की तरह अस्तित्ववाद ने भी भारतीय रचनाओं की मानसिकता को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। "अस्तित्ववादी दर्शन भी युग परिस्थितियों के सन्दर्भ में उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रिया है और इस कारण

---

१. साहित्य सन्देश, अक्टूबर ६६, अस्तित्ववाद और नयी कविता, रामगोपाल शर्मा, 'दिनेश' पृ० १३३।

आधुनिक भी है। शायद अद्यतन साहित्य में ऐसी जीवन-दृष्टि सर्वाधिक मुखर है।"[1] साठोत्तरी कविता की बृहद काव्य-यात्रा में अस्तित्ववादी दर्शन के पड़ाव आसानी से देखे जा सकते हैं। हिन्दी-साहित्य में अस्तित्ववाद की दुर्बलताओं को आत्मसात करने की चेष्टा तो हुई है लेकिन उसके संवादी स्वरों को उपेक्षित छोड़ दिया गया है।

आधुनिकता बोध—

मानवीय इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या यदि कार्ल मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद द्वारा की तो फ्रायड के मनोविश्लेषण ने मनुष्य को उसके मनोभावों के अनेक जटिल तथा गूढ़ रहस्यों से परिचित कराया। 'डार्विन' ने अपने 'थियरी आफ इवोल्यूशन' द्वारा मनुष्य की धार्मिक भावनाओं को झकझोर दिया था। बाद में मार्क्स और फ्रायड ने उसे और दृढ़ आधार प्रदान किया। विश्व में जिस प्रकार से वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ औद्योगीकरण का विस्तार हुआ है मनुष्य रूढ़ियों से हटकर अधिक यथार्थ और वैज्ञानिक दृष्टि से देखने लगा है। जो वस्तु कल तक अज्ञान के कारण दैवी चमत्कार बनी हुई थी उसे आज विज्ञान ने तार्किक, सन्तुलित और स्वतन्त्र दृष्टि से देखने की कोशिश की है। इसका प्रभाव यह हुआ कि मनुष्य में वैज्ञानिक बुद्धि का प्रादुर्भाव हुआ तथा उसके पुराने मूल्यों में बदलाव आया। इस बौद्धिक जागरूकता ने परम्परागत रूढ़ियों के स्थान पर यथार्थ को महत्व दिया। सभी नैतिक मानदण्ड बिखरने तथा टूटने लगे। व्यक्तिगत धरातल से लेकर सामाजिक धरातल तक एक परिवर्तन सहज प्रक्रिया के रूप में सामने आया। इन सभी परिवर्तनों के मूल में आधुनिक भाव-बोध ही प्रमुख है।

आधुनिकता एक विचार अथवा जीवन-दृष्टि है। आधुनिकता को किसी काल देश अथवा जाति की सीमाओं में बाँधना सीमित दृष्टिकोण है क्योंकि विचार अथवा दृष्टिकोण किसी काल अथवा देश-जाति की पूँजी नहीं होते। "आधुनिकता का सम्बन्ध हमारे उन अनुभवों से है जिन्हें हम वैज्ञानिक-औद्योगिक सभ्यता के अनुभव कह सकते हैं।"[2] आधुनिकता जहाँ वर्तमान से सम्बन्धित है वहाँ एक विचार अथवा जीवन दृष्टि भी है जो किसी भी काल में सम्भव है।

---

१ हिन्दुस्तानी (त्रैमासिक) जनवरी-जून १९७०, आधुनिकता स्वरूप निर्धारण —रमाशंकर तिवारी पृ० १११।

२. नये साहित्य का तर्क-शास्त्री —विश्वनाथप्रसाद तिवारी, पृ० ५४।

तात्पर्य यह है कि आधुनिकता समय की चुनौतियों को स्वीकार करने और सत्य को ग्रहण करने की एक यथार्थवादी दृष्टि है। सच्चा साहित्यकार युग की धड़कनों का सीधा साक्षात्कार करते हुए, बदलते हुए सन्दर्भों को ग्रहण करते हुए रचना करता है। वह युग मनः स्थिति का भोक्ता और साक्षी होता है। केवल 'वर्तमान' में जीना ही 'आधुनिक' होना नहीं है। 'आधुनिकता बोध' के लिए वर्तमान के प्रति पूर्ण सचेत होना— वर्तमान की गहराई से महसूस करना जरूरी है।[1] आधुनिकता के साथ 'सामाजिक' तथा 'समकालीन' का प्रयोग भी होता है परन्तु ये दोनों शब्द वर्तमान से सम्बद्ध तथा कालवाची हैं। आधुनिकता वर्तमान से सम्बन्धित होते हुए भी मूल्य बोधक हैं।

आधुनिकता के कारण पुराने मूल्यों के प्रति नये आदमी का मोहभङ्ग हुआ है। वैज्ञानिक औद्योगिक प्रगति के अनुभवों को जितना यूरोप में भोगा गया है उतना भारत में नहीं। इसी का कारण है कि भारतीय साहित्य में आधुनिकता के फलस्वरूप जो क्षोभ, उत्तेजना, आक्रोश और विद्रोह है वह यूरोप में नहीं मिलेगा। इसका कारण हमारी और उनकी परिस्थितियों का अन्तर ही है। सच्ची आधुनिकता, परम्परा विरोध में नहीं अपितु परम्परा को वर्तमान की कसौटी पर जांचने, परखने में है। जब समय के साथ बहुत सी वस्तुएँ अपना अर्थ खो देती हैं तब आधुनिकता समयानुरूप उसमें नये अर्थ को प्रतिष्ठित करती है। आज हम अतीत और वर्तमान में एक प्रकार का तनाव महसूस कर रहे हैं। आज का साहित्य इसी तनाव में लिखा गया साहित्य है। आधुनिकता का आधार यथार्थवाद है। आधुनिकता फैशन से बड़ी चीज है। इसे न अनुकरण कह सकते हैं न प्रयोग। यह तो एक सोचने और जीने का तरीका है।

साठ के पश्चात् भारत में आधुनिकता का बोल-बाला अधिक रहा। चिन्तन के क्षेत्र में व्यापक उथल-पुथल, धर्म और ईश्वर से अलग स्वतन्त्र मनुष्य की प्रतिष्ठा, यथार्थवादी रुझान, पुराने अन्धविश्वासों को तोड़कर जाति

It must be clearly understood that the more fact of living in the present does not make a more modern for in that case everyone at present alive would be so. He alone is modern who is fully conscious of the present.
—Modern Man in search of soul—C. G. Jung, Page 227.

सम्प्रदाय, रंग-भेद, साम्राज्य उपनिवेश और शोषण से हीन एक नये सक्षम आदमी की और सम्भावना, पुरानी भाषा छन्द प्रतीकों के स्थान पर बोल-चाल की शब्दावली, अनुभव की भाषा तलाशने का प्रयास तथा भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता का आग्रह सभी कुछ आधुनिकता बोध से प्रभावित है। इस आधुनिकता बोध को आज नये आदमी ने अधिक भोगा है। अतः नये साहित्यकार में नयेपन की अधिक सम्भावनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

निष्कर्ष—

मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद तथा आधुनिकता बोध ने साठोत्तरी मानव के चिन्तन में परम्परा के प्रति अविश्वास पैदा कर दिया। वैज्ञानिक प्रगति ने मानव-मूल्यों के सामने समस्या पैदा कर दी। धर्म, दर्शन, ईश्वर, प्राचीन मान्यताओं और परम्पराओं को मनुष्य ने अस्वीकार कर दिया। अस्तित्व का संकट, असन्तोष, विद्रोह तथा अकेलेपन की भावनाएँ इन्हीं जीवन-पद्धतियों की देन हैं। इन जीवन दृष्टियों के प्रभाव से कविता भी अछूती नहीं रही।

साठोत्तरी कविता : अभ्युदय और प्रगति—

तार सप्तक (१९४३) के प्रकाशन के पश्चात् हिन्दी कविता में एक नया मोड़ आया। प्रयोगवादी कवि अन्वेषण के कवि थे। यह प्रयास अधिकतर कलावाद पर ही अधिक आधारित था जिसमें शिल्प सम्बन्धी अनेक प्रयोग हुए। प्रयोगवाद जब समय की गति के अनुसार न चल सका तो १९५४ में नयी कविता का उदय हुआ जो स्वतन्त्रता के बाद की आस्था, अनास्था, सुख-दुःख और भविष्य के स्वप्निल रंगों की कविता थी। नई कविता ने नये भारत के साथ उत्पन्न हुई नयी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति का बीड़ा उठाया था परन्तु "इस कविता ने ऊपर से तड़क-भड़क तो बहुत दिखाई किन्तु अन्दर-अन्दर यह भी छायावाद का ही अनुगमन करती रही और इसने भी अपना एक संकीर्ण काव्य संसार बना लिया जो धीरे-धीरे वास्तविक संसार से दूर होने लगा।"[1] स्वतन्त्रता के पश्चात् किस तरह भारत को राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में असफलताओं का सामना करना पड़ा तथा अनेक देशी-विदेशी विचार धाराओं ने यहाँ के जन-मानस को प्रभावित किया

---

१. 'कल्पना' मई १९७० से मधुसूदन चतुर्वेदी —विश्वनाथप्रसाद तिवारी पृ० २८।

इसका उल्लेख हम कर चुके हैं। सन् ६२ में चीनी आक्रमण से भारत में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ जिसे नामवरसिंह ने 'मोहभंग का काल'[1] कहा है। नई कविता के बारे में अनेक प्रश्न पैदा हुए। वह मानव-जीवन की जटिलताओं को अभिव्यक्ति देने में अपने को असमर्थ पा रही थी इसीलिए मुद्राराक्षस ने नई कविता के कवियों को 'मेटागाग'[2] कहा। 'मेटागाग' का अर्थ उससे है जो अपनी कही हुई बातों पर आचरण नहीं करता। इसी तरह नई कविता के कवि भी रहे जो 'पराई जूठन और टूटन'[3] के ही कवि रह गए। श्यामविमल का भी यही मत है कि 'साठ के पूर्व की कविता अन्वेषण के क्षेत्र में नवीनता, मुक्त यथार्थवाद, बौद्धिकता एवं क्षणवाद के जिन तत्वों को लेकर लिखी गई उससे वह नितान्त वैयक्तिक, वेमतलब, नग्न, निराशावादी और पीली होती गई।"[4] जगदीश चतुर्वेदी की राय में नई कविता 'विरहा गाने वाली छायावादी मेदसी' है तो प्रभाकर माचवे के अनुसार 'आदर्शवाद की मूर्च्छना' है। स्वयं नई कविता के कवि समीक्षक ही इसकी युगीन वास्तविकता की ओर उंगली उठाने लगे। गिरिजाकुमार माथुर को जो रचनाएँ एक दूसरे की कार्बन कापी प्रतीत होती है'[5] तो रामस्वरूप चतुर्वेदी के विचार में 'वे अब चुके और बीते से दीख रहे हैं, अपने को ही दुहरा रहे हैं।' बात यहाँ तक आ गई कि १९५० से ६० के बीच की कविता को 'नव छायावाद' की संज्ञा दी जाने लगी जिसका समर्थन सुमित्रानन्दन पन्त ने भी किया। भाषा प्रतीक बिम्ब तथा भावबोध के स्तर पर नई कविता अपने ही जाल में फँस गई तथा उसमें एक प्रकार का 'मैनरिज्म' उत्पन्न हो गया। यह सम्मोहन में हमारे आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक मोहभंग के साथ बिखराव आरम्भ हुआ।

---

१. १९६१ से स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य का जो दूसरा दशक आरम्भ हुआ उसे मोहभंग का काल कह सकते हैं।
—आलोचना जनवरी-मार्च, १९७४ –हि० सा० के २५ वर्ष, पृ० ७०।

२. वीणा, अगस्त १९६६, —नई कविता से अकविता, पृ० ४९६।

३. राष्ट्रवाणी सितम्बर १९६८, सातवें दशक की कविता —विश्वम्भरनाथ उपाध्याय पृ० १२।

४. राष्ट्रवाणी विशेषांक, सितम्बर १९६८, —कविता से गुजरता हुआ युवा मानस पृ० ६५।

५. धर्मयुग ५ जून, १९६६ —अस्वीकृति का नवोन्मेष : तार सप्तक से अकविता तक (२) पृ० १।

सन् १६६० से ७२ तक का समय हिन्दी-साहित्य में एक निर्णायक काल कहा जा सकता है। इन १२ वर्षों में हिन्दुस्तान में जितने राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा वैज्ञानिक परिवर्तन हुए उतना ही परिवर्तन का वैविध्य साहित्यिक रंग-मंच पर हुआ। सन् ६० के पश्चात् इस बदलाव को सभी कवि-समीक्षक स्वीकारते हैं वैसे इस नई संवेदना की शुरुआत १६५८ में नरेश मेहता और श्रीकान्त वर्मा के सम्पादकत्व में 'कृति' के प्रकाशन से ही हो गई थी जिससे 'नवलेखन' की शुरूआत मानी जाती है और जो नई कविता से अपना अलगाव घोषित करता है। जिस प्रकार हिन्दी कविता के विभिन्न आन्दोलनों ने अथवा युग की कविता ने अपने से पूर्व की कविता से प्रेरणा ग्रहण करते हुए भी अपना स्वरूप अलग से गढ़ा है, उसी तरह साठोत्तरी कविता भी नई कविता की पीठिका पर होते हुए भी उससे भिन्नता रखती है। वैसे ६० को कोई लक्ष्मण रेखा नहीं माना जा सकता, क्योंकि साहित्य में विज्ञान की भाँति 'सप्रेशन' नहीं हो सकता, दूसरे सन्-संवत् से जोड़ा जाने वाला सर्जन तर्क पर टिकता नहीं, क्योंकि उसमें सन्-संवत या पीढ़ी को ही आगे लाने का व्यर्थ प्रयत्न है 'वस्तु' या कथ्य की अद्वितीयता नहीं। "सन्-संवत् और वे पीढ़ियाँ केवल पहचान या इतिहास के लिए एक सुविधा के सिवा कुछ नहीं है।"[1] फिर भी तीसरे सप्तक (१६५६) के प्रकाशन के पश्चात् नई कविता का एक अध्याय समाप्त हो गया तथा 'प्रारम्भ' के प्रकाशन से हिन्दी कविता में एक परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। सन् ५० के पश्चात् युवा लेखक सामने आये जिन्होंने स्वतन्त्रता में ही अपनी आँखें खोलीं। इन लेखकों का तेवर पूर्ववर्ती लेखकों से भिन्न था। डॉ० नामवरसिंह ने इस भिन्नता की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'व्यक्ति और इतिहास दोनों ही स्तरों पर युवा लेखकों की भिन्नता स्पष्ट है। व्यक्ति के रूप में युवा लेखकों का मानस संस्कार स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बना तो इतिहास के रूप में झेलने को मिला। साठोत्तरी युग-परिवर्तन। व्यक्तित्व का यह विशिष्ट घात-प्रतिघात ही युवा लेखन की भिन्नता का आधार है।"[2] लक्ष्मीकान्त वर्मा युवा लेखन के इस विकास को 'स्ट्रीट अर्चिन कल्चर' की संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार 'स्ट्रीट अर्चिन कल्चर' स्वयं अमानुषिक नहीं होता। वह अमानुषिकता के संघात से

१. हिन्दुस्तानी संयुक्तांक जनवरी-दिसम्बर, १६६७ कविता का क ख ग —श्रीराम वर्मा, पृ० १३।
२. आलोचना जनवरी-मार्च, १६६८।

जन्मता है, इसलिए उसमें अपराध के प्रति मोह नहीं वरन् सहज उपेक्षा में अपराध होता है। मैं जब इस पूरी संवेदना को 'स्ट्रीट आर्चिन कल्चर' से संबद्ध करता हूँ तो उसके पीछे वे समस्त सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ आती हैं जिनमें सम्पूर्ण देश की मनः स्थिति खिन्नता और आक्रोशपूर्ण नपुंसकता में घुटकर पिस रही है।[1]

सन् ६० के पश्चात् देश की परिस्थितियों के कारण युवा वर्ग ने जो अनुभव किया उसी की अभिव्यक्ति बनी साठोत्तरी कविता। इसे युवा कविता के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। एक बदली हुई परिस्थिति में इस कविता ने जन्म लिया। वैसे साठोत्तरी कविता सठियाये कवियों की अभिव्यक्ति नहीं है। प्रजातन्त्र का तेरह वर्षीय योजनाओं और आश्वासनों का काल इस समय की जिस चेतना की सही पकड़ में आया वे साठोत्तरी कवि कहलाये। कविता अपने बदलते सन्दर्भों की गवाही स्वयं देने लगी—

> कितना अच्छा था छायावादी
> एक दुःख लेकर वह गान देता था
> कितना कुशल था प्रगतिवादी
> हर दुःख का कारण वह पहचान लेता था
> कितना महान था गीतकार
> जो दुःख के मारे अपनी जान लेता था।
> कितना अकेला हूँ मैं इस समाज में
> जहाँ सदा मरता है एक और मतदाता[2]

जहाँ रघुवीरसहाय की उपर्युक्त पंक्तियाँ साठोत्तरी कविता में बदली हुई संवेदना की ओर स्पष्ट संकेत करती है। परन्तु साठोत्तरी कविता में यह बदलाव अनायास अथवा अप्रत्याशील नहीं है यह उनके परिवेश और अनुभूति की उपज है। साठोत्तरी रचना सत्र में यह बदलाव संकल्पात्मक है और युवा लेखकों का अनुभव है, जो उन्होंने छठे दशक के 'विसंगति', 'विडम्बना' 'जटिलता' जैसे अमूर्त एवं फंतासीय पारिभाषिकों वाले रचनाकर्म को बर्खास्त करने के बाद हासिल किया है।[3] आज भी जबकि साठोत्तरी कविता पूर्णतः

---

१. आलोचना जनवरी-मार्च, १९६८।
२. आत्म-हत्या के विरुद्ध, कोई एक और मतदाता, पृ० ६९।
३. बिन्दु संयुक्तांक विशेषांक ३-४-१९७२, –लेख आधुनिकता बोध और जर्नचित —रमेश कुन्तल मेघ, पृ० ५६१।

स्थापित हो चुकी है तथा हिन्दी के प्राय: सभी कवि और समीक्षकों ने इसके महत्व को स्वीकार किया है वहाँ कुछेक कवि-आलोचक आज भी इस नाम से या तो चिढ़ते हैं अथवा साठ के बाद किसी प्रकार के परिवर्तन को स्वीकार करने में हिचकते हैं। डॉ० जगदीश गुप्त साठोत्तरी कविता जैसी कोई कविता न मानकर इसे नई कविता का ही विकास मानते हैं। उनका विचार है कि आज भी नई कविता सातवें दशक में हुए विभिन्न काव्यान्दोलनों को अपने में समाहित करने की पूर्ण क्षमता रखती है। डॉ० रामदरश मिश्र तथा डॉ० हरिचरण शर्मा भी साठ के पश्चात् बदलाव को दबी जुबान से स्वीकार करते हैं। आज भी जो साठोत्तरी कविता के बदले हुए तेवर को स्वीकार नहीं करते उनके लिए परमानन्द श्रीवास्तव का यह कथन समीचीन है कि 'जिन्हें जान पड़ता है कि ६० के बाद कविता में किसी नये मोड़ का संकेत करना एक झूँठ या गलत नारा देना है, वे अन्धकार में हैं और शायद रहना चाहते हैं।"[१]

साठोत्तरी कविता अपनी प्रवृत्तियों के कारण पूर्ववर्ती कविता से अपना अलगाव रखती है। युगीन परिस्थितियों के कारण जो सामान्य प्रवृत्तियाँ उभरकर आईं वे निश्चय ही अपने युग का प्रतिनिधित्व करती हैं। आक्रोश और विद्रोह के स्वर, सपाट बयानी और नूतन शब्द संसार, मोहभंग युक्त राजनीतिक लगाव, अभिव्यंजना रूढ़ि, नई संवेदना तथा व्यंग्यात्मक स्वर आदि प्रवृत्तियाँ साठोत्तरी कविता की कसौटी है।

साठोत्तरी कविता में एक विशेष प्रकार की चेतना थी। यह आवश्यक नहीं था कि यह चेतना केवल युवा कवियों में ही मिलती है उनसे पूर्व के कवियों में नहीं। देश की तत्कालीन परिस्थितियों से निश्चय ही एक विशेष प्रकार की कविता सम्भावित थी। इस नई सम्भावनाओं का अनुभव कुछ नई कविता के कवि और सप्तकीय कवियों को भी हुआ है। अवस्था में अधिक होते हुए भी दिल तथा दिमाग से इनमें परिवेश की सही पकड़ दिखाई देती है। जिन कवियों ने यथा स्थिति से साक्षात्कार करने का साहस दिखाया है वे निश्चय हीं युवा कवियों के समक्ष ठहरते हैं। साठोत्तरी कविता की प्रगति उसके विभिन्न काव्यान्दोलनों के इतिहास में देखी जा सकती है। सन् १९६२ में सनातन सूर्योदयी कविता से लेकर १९७२ में विचार कविता तक को

१. नई कविता परिप्रेक्ष्य, पृ० १३४।

इस अल्पावधि में ही लगभग पचास से अधिक आन्दोलन कविता के क्षेत्र में लगाये गए। कविता की मुद्रा में हुए विभिन्न परिवर्तनों का जायजा इन आन्दोलनों से लगाया जा सकता है।

(घ) साठोत्तरी कविता : विविध काव्यान्दोलन—

साठोत्तरी हिन्दी कविता के अभ्युदय में रंग-मंच पर और नेपथ्य में जो राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि कारण एवं विभिन्न विचारधाराएँ सक्रिय रहीं उनसे एक बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि कवि की मानसिकता को उस वातावरण ने बुरी तरह प्रभावित तथा प्रताड़ित किया। इसी कारण समाज, व्यवस्था, परम्परा, धर्म, नीति, संस्कृत, सभ्यता आदि के प्रति उसमें अस्वीकार, आक्रोश और विद्रोह का स्वर उभर कर आया। कवि के सामने एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न था अपनी घुटनभरी अभिव्यक्ति का। इसके लिए उसने नये-नये आन्दोलनों और नामों की वैसाखियों का सहारा टटोला। साठोत्तरी कविता का इतिहास विभिन्न नामों, वादों, नारों और आन्दोलनों का इतिहास है क्योंकि इस काल में (१९६० से १९७२ तक) कविता जितने नये नामों और विशेषणों से जुड़ी इतना किसी काल में नहीं। अनेक नये और पुराने कवि अपना-अपना अलग घोषणा-पत्र और नामपट्ट लेकर कविता क्षेत्र में कूद पड़े। इन कविता आन्दोलनों को अनेक छोटी-छोटी पत्रिकाओं ने प्रकाशित तथा प्रचारित किया। इन आन्दोलनों के पीछे हमें तीन प्रकार के कवि दिखाई पड़ते हैं। एक ग्रुप उन असन्तुष्ट कवियों का था जो न तार सप्तक ने स्वीकार किए थे तथा न उन्हें नई कविता में ही स्थान प्राप्त हो सका था। दूसरी श्रेणी में वे कवि आते हैं जो स्थापित होने के लिए नई कविता के विरोध में आये थे। तीसरे प्रकार के वे कवि थे जिन्होंने साठ के बाद ही लिखना प्रारम्भ किया था जिनमें से कुछ खेमेबाजी के विरोध में थे। यह बता देना आवश्यक है कि उपर्युक्त तीनों प्रकार से कवियों का विभाजन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि एक-एक कवि कई-कई आन्दोलनों से जुड़ा हुआ है। सन् ६० के बाद कविता में आन्दोलनों की जो बाढ़ आई उसे डॉ० जगदीश गुप्त ने व्यंग्यात्मक लहजे में 'किसिम किसिम की कविता' नामक शीर्षक लेख में इस प्रकार गिनाया है—सनातन सूर्योदयी कविता, अस्वीकृत कविता, अकविता, सकविता, अन्यथावादी कविता, विद्रोही कविता, क्षुत्कातर कविता, कबीर पन्थी कविता, समाहारात्मक कविता, उत्कविता, विकविता, अकविता, अभिनव कविता, अधुनातम कविता, नाटकीय कविता, ऐण्टी कविता,

निर्दिशामयी कविता, लिग्वादलमोतवादी कविता, एब्सर्ड कविता, गील कविता, नवप्रगतिवादी कविता, साम्प्रतिक कविता, बीट कविता, ठोस कविता, (कान्क्रीट कविता), कोलाज कविता, बोध कविता, मुहूर्त की कविता, द्वीपान्तर कविता, अति कविता, टटकी कविता, ताजी कविता, अगली कविता, प्रतिबद्ध कविता, युद्ध कविता, स्वस्थ कविता, नंगी कविता, गलत कविता, सही कविता, प्राप्त कविता, सहज कविता, आँख कविता ।"[१] इन नामों के बाद कुछ अन्य नामों का भी उदय हुआ जिनमें कुकविता, अति कविता, आज की कविता, पोस्टर कविता तथा विचार कविता आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। कविता के इन विभिन्न नामों में से कुछ महत्वपूर्ण कविता आन्दोलनों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

अकविता—

अकविता की दागबेल सन् १९६३ में जगदीश चतुर्वेदी के सम्पादन में प्रकाशित 'प्रारम्भ' कविता संकलन से पड़ गई थी। इसमें १४ कवियों में जगदीश चतुर्वेदी, कैलाश वाजपेयी, नरेन्द्रधीर, राजकमल चौधरी, केशु, ममता अग्रवाल, श्याम परमार, विष्णुचन्द्र शर्मा श्याम मोहन, मनमोहनी, रमेश गौड़, राजीव सक्सैना, स्नेहमयी चौधरी तथा नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी है। सम्पादक ने इन कवियों की दृष्टि को आधुनिक जीवन से सम्पृक्त बताकर नयी कविता के 'मैनेरिज्म' से अलगाव का संकेत दिया। जगदीश चतुर्वेदी ने कहा कि "इसमें वही कवि सम्मिलित किए गए हैं जिनमें आधुनिकता के प्रति सहज आग्रह है और जो अपने कवि धर्म के प्रति सजग तथा सचेत हैं।"[२] परन्तु बात शत-प्रतिशत ऐसी नहीं थी क्योंकि इनमें से बहुत से कवि नई कविता में छप चुके थे तथा इस संकलन में इनकी सजगता तथा सचेतता के रूप में यौन परक कविताएँ ही मिलती हैं। उसकी कविता में ताजापन था परन्तु कविताओं की 'वस्तु' यौन परक अधिक थी। यदि राजकमल चौधरी को औरत नंगी नहीं लगती है।[३] ममता अग्रवाल को भीड़ के स्पर्श बेहूदे लगते हैं[४] तो जगदीश चतुर्वेदी को रात का उजड़ा हुआ निष्काम मैथुन रत होकर सो गया[५] आम

---

१. 'नई कविता' ८ -डॉ० जगदीश गुप्त, पृ० २४७।

२. प्रारम्भ —सं० जगदीश चतुर्वेदी भूमिका।

३. प्रारम्भ —सं० जगदीश चतुर्वेदी, पृ० ९०।

४. वही, पृ० ११९।

५. वही, पृ० २७।

पड़ता है। स्त्री और पुरुषों के बीच के सम्बन्धों को नई दृष्टि और दिशा से देखना इन कवियों ने आरम्भ किया जिसमें आक्रोश और अस्वीकार का स्वर भी था। इसी जमीन पर अकविता ने जन्म लिया।

अकविता को ग्वालियर से गोविन्दराम के सम्पादन में निकलने वाली 'अकविता' पत्रिका ने भी प्रश्रय दिया। बाद में यही पत्रिका डॉ० कोमलसिंह सोलंकी के सम्पादन में भी प्रकाशित हुई। ललितकुमार श्रीवास्तव के सम्पादन में जबलपुर से 'कृति परिचय' पत्रिका का अकवितांक जून १९६७ में निकला तथा 'वीणा' का १५ अगस्त १९६६ का भी अकविता विशेषांक इन्दौर से निकला। इन दोनों पत्रिकाओं के विशेषांकों से अकविता का चरित्र काफी हद तक साफ हो जाता है। अकवियों का 'विजप' नाम से एक कविता संकलन भी प्रकाशित हुआ जिसमें 'गंगाप्रसाद विमल' जगदीश चतुर्वेदी और श्याम परमार की कविताएँ हैं। अकविता का प्रथम अंक १९६५ में निकला जिसमें १४ कवि हैं। चयन कर्त्ताओं में जगदीश चतुर्वेदी, मुद्राराक्षस, रवीन्द्रनाथ त्यागी और श्याम परमार के तथा प्रस्तावकों में अतुल भारद्वाज, गंगाप्रसाद विमल, गिरिजाकुमार माथुर, तारा तिम्कू, नित्यानन्द तिवारी, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल, राजीव सक्सैना, विनोदचन्द्र पाण्डेय और सौमित्र मोहन के नाम हैं। इस पत्रिका के फ्लेप पर श्याम परमार का वक्तव्य छपा है जिसमें पिछली परम्परा का अस्वीकार और परिवर्तित सौन्दर्य बोध की बात कही गई है।[1] नये और पुराने तथा अनेक विचारधाराओं से प्रभावित कवि इसमें दीख पड़ते हैं जिनमें कन्टैन्ट और फार्म की दृष्टि से एक रूपता नहीं। गिरिजाकुमार माथुर अकविता को 'अस्वीकृति का नवोन्मेष' मानते हैं जबकि श्याम परमार की दृष्टि में यह एक काल धर्मी, कविता है। अकविता के अ को वह निषेधपूर्ण भी नहीं मानते हैं। उनका विचार है कि—'अकविता शब्द क्रमशः हिन्दी कविता में उभरते हुए नये अन्दाज के लिए एक पारिभाषिक शब्द हो चला है। अतएव अकविता कविता विरोधी शब्द नहीं रह गया है। उसे एन्टी या नानपोएट्री कहना भी उतना गलत है जितना कि यह आरोपित करना कि अकविता में कविता नहीं। अकविता अन्तर्विरोधों की अन्वेषक कविता है।[2] परन्तु अजितकुमार के विचार से यह शब्द भ्रामक है क्योंकि 'एक ओर तो इसका प्रयोग उस कविता के अर्थ में किया जाता है, जो कविता

१. अकविता १ फ्लेप का वक्तव्य।
२. अकविता और कला सन्दर्भ —डॉ० श्याम परमार, पृ० १

हो ही नहीं, दूसरे उस कविता के अर्थ में, जो कविता सम्बन्धी स्वीकृत सिद्धान्तों एव मान्यताओं को नकारती हुई अपने साक्षात् अस्तित्व द्वारा किन्हीं नवीन सिद्धान्तों एवं मान्यताओं का प्रतिपादन करती है।"[१] डॉ० श्याम परमार अकविता को पश्चिमी आन्दोलनों से प्रभावित नहीं मानते। उनके अनुसार "जो समीक्षक ढीट, नाराज और भूखे-प्यासों के साथ अकविता को पश्चिम की अनुकृति कहते हैं वे भूल करते है।"[२] इन्हीं के दूसरे साथी जगदीश चतुर्वेदी अकविता पर पश्चिमी प्रभाव को स्वीकार करते हैं।

अकविता में नारी और पुरुष के सम्बन्धों को नये दृष्टिकोण से देखा गया है। अकवियों ने नारी सम्बन्धों, उसके शरीर अवयवों और कामुकतापूर्ण प्रसंगों को अपनी कविता का विषय बनाया क्योंकि जगदीश चतुर्वेदी रोटी, हड़ताल और राजनीति को मोटे विषय मानते हैं। वह पत्नी, प्रेमिका और वेश्या में कोई अन्तर नहीं समझते। वे नगी औरतें देखना चाहते हैं। उनका इरादा प्रेमिका के शरीर को गन्ने के खेत में तोड़ने का है। उन्होंने उन स्त्रियों से मिलना भी छोड़ दिया है जिनके स्तन इन्तजार करते-करते सिकुड़कर रबड़ की चपटी गेंद की तरह हो गए हैं।[३] जगदीश चतुर्वेदी स्त्री की टाँगों, रानें, यौन, छाती और कमर के आस-पास ही रहना चाहते हैं उनके अनुसार—

उपासनों गृहों में मिथुन रत कुत्ते और गिद्ध
सूनते हैं अपने-अपने अगों को
चुपचाप।[४]

कभी इनकी प्रेमिका अपनी काम-भूख को नाली में अल्सेशियन कुत्ते से मिटाती है तो कभी इनकी आँखों की पुतलियों में प्रेमिका के स्तन और रोम-रोम उग आते हैं।[५]

अकवियों का काव्य वैयक्तिक काव्य है। अकविता के कवि सौमित्र मोहन भी औरत के पेट की सीवन उधेड़कर उसके गर्भ-जल से अपना शिश्न धोते हैं[६] इस प्रकार के अकवियों की चिन्तन-पद्धति को देखकर यह अन्दाज

१. धर्मयुग—हिन्दी काव्य की नई दिशा—अकविता, अजितकुमार, पृ० १७।
२. प्रारम्भ —सं० जगदीश चतुर्वेदी भूमिका।
३. कृति परिचय (अकवितांक) जगदीश चतुर्वेदी, पृ० १६।
४. अकविता १, मृत्युभोग —जगदीश चतुर्वेदी, पृ० ७।
५. कृति परिचय (अकवितांक) जगदीश चतुर्वेदी, पृ० १७।
६. कृति परिचय (अकवितांक) सौमित्र मोहन, पृ० १8।

लगाया जा सकता है कि ये कवि अपनी मृत्यु की सामग्री अपने साथ ही साथ लाये थे। अकवियों में श्याम परमार तथा गंगाप्रसाद विमल कुछ सुलझे हुए कवि हैं, परन्तु यौन सम्बन्धी कविताओं से असंपृक्त उन्हें नहीं कहा जा सकता है। कुछ संयम का परिचय उन्होंने दिया है। अकवियों ने प्रेम को लेकर भाषा को नंगा और सैक्सी बना दिया। ये कवि सामाजिक उत्तरदायित्वों से पलायन के कवि थे अन्यथा इनकी कविता का केन्द्र स्त्री और उसका कामुक शरीर ही न होता। अनेक अस्वीकार और निषेध के भाव इस कविता में मिलते हैं परन्तु ऐसा लगता है कि वे मात्र अपनी विद्यता को ढकने के लिए ही है। इस अकविता के मोह जाल से चन्द्रकान्त देवताले और ललितमोहन श्रीवास्तव जैसे कवि भी नहीं बच सके। कुछेक कवियों ने मात्र चमत्कार-प्रदर्शन के मोह में अपनी प्रतिभा का अपव्यय भी किया है जिनमें सतीश जमाली की 'मानव यौन'[1] कविता तथा राजीव सक्सैना की कविता[2] जिसमें न भाषा की पहचान होती है न अर्थ, न शब्द की। 'अकविता' नगर बोध की कविता है। नगरीय जीवन का चित्रण और उसकी विडम्बनाओं को अकवियों ने अपना कन्टेन्ट बनाया है। अकविता में ऐसी कविताएँ काफी मिल जायेंगीं जो अपनी कथनी और करनी में साम्य स्थापित नहीं कर पातीं। कविता के नाम पर अखबारी कतरन नुमा कोलाज कविता[3] भी अकवियों ने सृजित की।

अकविता आन्दोलन साठोत्तरी कविता का सबसे चर्चित आन्दोलन रहा है जिसने बड़े साहस का परिचय देते हुए प्रथम बार पुराने मूल्य और सौन्दर्य-बोध को अस्वीकृत करने का बीड़ा उठाया। कविता के 'वस्तु' और 'शिल्प' के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग किए। निश्चय ही इनका दृष्टिकोण लीक से हटा हुआ था परन्तु इन सबके बावजूद 'सैक्स' का ऐसा ताना बाना अकवियों ने बुन दिया कि उसकी चर्चा किए बिना अकविता में कुछ बचता नहीं है। इन कवियों ने विद्रोह और क्रान्ति को कलंकित करने का प्रयास किया जिससे इस कविता के बारे में भ्रम स्वयं फैल गया। अकविता को एक शारीरिक सम्बन्ध माना जो भूख मिटाने के लिए आवश्यक है यही इसका परिवर्तित सौन्दर्य बोध तथा मूल्य था।

---

१. अकविता ५, सतीश जमाली, पृ० ७३।
२. अकविता १, राजीव सक्सैना, पृ० १३।
३. विजप, –श्याम परमार, पृ० १२०।

अकविता में कुछ कवत्रियाँ भी सामने आईं जिनमें मीना गुलाटी, मणिका मोहनी तथा ममता कालिया प्रमुख हैं। मीना गुलाटी की कविता में अनेक औरतें और कथाएँ जन्म लेती हैं परन्तु वह भी अपने समस्त कार्य-कलाप अतृप्त रहकर ही करना चाहती है। वह अपनी अतृप्ति पर यहाँ तक कह देती है–

पूरी पीढ़ी बंजर रहो और बंजर रहे मेरे देश की धरती।[1]

मणिका मोहनी की कविता में एक कभी न समाप्त होने वाली बेचैनी है जो अन्दर ही अन्दर कचोटकर कवि कर्म के प्रति सचेत करती है। आन्तरिक टूटन कभी-कभी अभिव्यक्ति का कारण बनती है।[2] वे समाज में 'सोसाइटी गर्ल्स' की भाँति 'सोसाइटी ब्याइज्' की माँग करती हैं। नारी यहाँ आकर खिलवाड़ बन गई तथा भारतीय नारी से अलग एक विशेष तरीके का चित्रण इन कविताओं में किया गया। डॉ० गोविन्द रजनीश का विचार इस प्रकार की पंक्तियों को देखकर उचित लगता है कि "हिन्दी की अकविता का विद्रोह आत्मरति का विद्रोह है। नारी शरीर के नोंचने-कचोटने का विद्रोह है। इस अघोरी कविता में जिघासु चीत्कारें मात्र हैं।"[3]

अकवियों ने नये प्रतीकों और बिम्बों का सहारा लेकर अधिकतर अपनी कुंठाओं की ही अभिव्यक्ति की है जो उनके रुग्ण मन का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

अकविता (ग्वालियर) के जून-अगस्त १९६८ के अंक में सम्पादक गोविन्द राय ने स्वीकार किया कि "अकविता तनाव और फ्रस्टेशन की काव्य परिणति है, जिसे मोटी-मोटी तनख्वाह पाने वाले अपने अनुसार ढाल लेना

---

१. अकबिता–५, पृ०   ।

२. सुबह होने से लेकर दिन डूबने तक
मैं इन्तजार करती हूँ रात का
जब हम दोनों एक ही कोने में सिमटकर
एक - दूसरे को
कुत्तों की तरह चोटेंगे
विवाह के बाद जिन्दा रहने के लिए
जानवर बनना बहुत जरूरी है।
—कृति परिचय (अकवितांक) पृ० ५४।

३. मधुमती अंक १९७६, पृ० १०१।

चाहते थे। इनकी इसी प्रवृत्ति ने अकविता के सम्बन्ध में भ्रम फैला दिए हैं।"[1]

बीट और भूखी-क्रुद्ध पीढ़ी—

बीट और भूखी पीढ़ी दोनों पर पश्चिमी जगत का प्रभाव है। बीट पीढ़ी आदि अमेरिका के बीट जेनरेशन से प्रभावित है तो भूखी क्रुद्ध और नाराज पीढ़ी इंगलैण्ड के एग्रीयंग मैंन से। क्रुद्ध पीढ़ी के नारे का जन्म १९५६ में इंगलैण्ड में जान और वोर्न के नाटक 'सरोष विहंगावलोकन' से हुआ। यह नाटक अंग्रेजी 'रंगमंच के पुनर्जागरण का अग्रदूत माना जाता है। उसका नायक जिम्मी पोर्टर एक क्रुद्ध तरुण के रूप मे पेश किया गया है। जिम्मी पोर्टर अर्थात नई पीढ़ी का युवा रुष्ट है, क्रुद्ध है।'[२] इन दोनों देशों के युवक अपने यहाँ मशीन, विज्ञान, सैक्स तथा अपने सामाजिक बन्धनों से ऊब गए और उन्होंने परम्परा को अस्वीकार कर पूर्ण मुक्तता की माँग की। अमेरिकी कवि गिंसवर्ग १९६०–६१ के बीच भारत आया जिसने कलकत्ता से अपना प्रचार आरम्भ किया। कलकत्ते में रातों-रात में भारतीय कवि इसके सहकर्मी तथा सहयोगी हो गए। देश में चारों ओर बड़े-बड़े नगरों में हिप्पी दिखाई देने लगे। बीटनिकों और हिप्पियों का प्रभाव युवा लेखकों खासकर भूखी पीढ़ी में अधिक मिलता है। भाँग, चरस एल० एस० डी० हरीश आदि का भोग, समलेंगिक सम्बन्ध तथा पुरुष मित्रों का बढ़ाव इसी के प्रभाव के कारण भारत में अधिक पनपा। इसलिए एक नई संस्कृति ने जन्म लिया।

'बीट जेनेरेशन' शब्द का आविष्कार जैक कैरुआक ने जो गिंस बर्ग का साथी था, किया तथा उसे फैलाने का भार उठाया गिंस बर्ग ने। गिंस बर्ग की कविता पुस्तक 'हाउल' तथा उसकी लम्बी कविता 'अमेरिका' का प्रभाव भारत में अधिकतर बंगला और हिन्दी कविता पर पड़ा। बंगला कवि मलयराज चौधरी तथा हिन्दी कवि राजकमल चौधरी दोनों पर इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। राजकमल चौधरी ने 'मुक्ति प्रसंग' में गिंसबर्ग को याद ही नहीं किया उसका प्रभाव भी इस पूरी कविता में है जिसमें

१. अकविता (ग्वालियर), पृ० ११।
२. हिन्दुस्तान २७ अगस्त, १९६७ –क्रुद्ध पीढ़ी बनाम प्रबुद्ध नई पीढ़ी —नौमिशरण मित्तल, पृ० २७।

मलयराज चौधरी भी मौजूद है।[1] इन लोगों ने भी अकवियों की तरह कन्टेन्ट के स्तर पर आत्म हत्या, यौन क्रियाएँ, पशु विद्रोह, स्तनों के स्तूप, चौड़े कूल्हे, विवश स्त्री, सैक्स का अवचेतन-चित्रण आदि को ही अपनाया। डॉ० कुमार विमल ने ठीक ही कहा है कि "कुल मिलाकर 'बीट जैनरेशन' का साहित्य-सर्जन सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक बन्धनों से सर्वथा युक्त है।"[2] आधुनिकता की होड़ में कुत्सित जीवन दर्शन को इन कवियों ने अपनाया जैसा कि डॉ० कुमार विमल का विचार है कि "बीट जैनरेशन ने आधुनिकता के एक प्रमुख अभिशाप को अपना समाज-दर्शन बना लिया है।"[3] यह आन्दोलन बाहर से आयात किया गया जिसके माध्यम थे राजकमल चौधरी। डॉ० जगदीश गुप्त का विचार है कि राजकमल चौधरी के माध्यम से अमेरिका का आयात माल (बंगाल होते हुए) हिन्दी में आया। केवल कविता में ही नहीं अपितु कथा साहित्य में भी।[4] अभिव्यक्ति-१ में आग्नेय, जगदीश चतुर्वेदी, नरेन्द्र धीर, श्याम परमार, रामनरेश पाठक आदि की कविताएँ तथा प्रभाकर माचवे का लेख है। इसका सम्पादन किया है रमेशकुन्तल मेघ और गंगाप्रसाद विमल ने। पाँचों का विचार है कि अभी भारतवर्ष तथा हिन्दी के कवियों ने बीटनिक जीवन को नहीं जिया है केवल उसका आरोपण ही अपने ऊपर किया है क्योंकि, अभी हमारे यहाँ बीटनिकों वाला साहब, उलटवासियाँ कहने की हिम्मत, सत्य के विष को पचाने का मादा बहुत कम है। अभी सिर्फ बीटनिक शब्द को दुहराते हैं, उसकी सृजनात्मक लावा भरी आग कहाँ है।[5]

भारत में गिंसबर्ग ने जो प्रभाव छोड़ा वह इससे पहले प्रतीकवादी बादलेयर आदि की कविताओं में मिल जाता है। समलैंगिकता के उदाहरण

१. मुक्ति प्रसंग —राजकमल चौधरी, पृ० २१।

२. माध्यम जनवरी १९६६, बीट जैनेरेशन —डॉ० कुमार विमल पृ० ९।

३. वही, पृ० १६।

४. नई कविता स्वरूप और समस्याएँ, —डॉ० जगदीश गुप्त, पृ० २२८।

५. अभिव्यक्ति-१ पं० रमेशकुन्तल मेघ, गंगाप्रसाद विमल, पृ० १३७।

वहाँ भी देखे जा सकते हैं परन्तु संयत भाषा में।[1] डॉ० ललित शुक्ल ने भूखी पीढ़ी वाले कवियों के लिए लिखा है कि हिन्दुस्तान की भूखी पीढ़ी के लोग भूखों नहीं मरे। उनकी भूख कायिक या मानसिक है। उनकी इस बात से पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता क्योंकि हिन्दुस्तान की भूखी पीढ़ी का कवि थोड़ा बहुत भूखा तो था परन्तु यह बात दूसरी है कि उसने इस भूख को हैवान अथवा शैतानी मूर्त देदी। रोटी के नाम पर ये कला और संस्कृति को ही खाने लगे जो निश्चय ही भारतीय सभ्यता संस्कृति तथा सामाजिक जीवन के विपरीत था। भारत जैसे देश में नैतिकता और सदाचार को एक दम खूँटी पर नहीं टाँगा जा सकता। शरद देवड़ा ने 'कालेज स्ट्रीट का मसीहा' तथा राजकमल चौधरी ने 'मछली मरी हुई' नामक उपन्यास लिखकर कथा-साहित्य में भी इस आन्दोलन को सक्रिय किया। यौन-उच्छृङ्खलता का बोल-बाला ही इस कविता में रहा जो अधिकतर देखा-देखी का प्रभाव था। इस प्रकार की प्रवृत्ति को देखकर डॉ० जगदीश गुप्त ने ठीक ही लिखा है कि क्षुधा और काम को नितान्त अमर्यादित रूप से ग्रहण करना आधुनिक जीवन के गहन सांस्कृतिक संकट का परिचायक भले ही हो, उसका विश्वसनीय निदान नहीं है, क्योंकि इनके वेग के द्वारा मानवीय सहानुभूति बहुधा कुचल दी जाती है और मनुष्य कंकाल के सदृश्य खोखला दिखाई देने लगता है।[2]

ताजी कविता—

ताजी कविता का आन्दोलन नई कविता के जन्म-स्थान इलाहाबाद से ही खड़ा किया गया और इसके अगुआ बने लक्ष्मीकान्त वर्मा। क ख ग (त्रैमासिक) जुलाई १९६५ के अंक में उन्होंने घोषणा की कि नई कविता अपने बासीपन के कारण अब अपने को दोहरा रही है। छायावादी संस्कारों से ग्रस्त होने से उसका ताजापन समाप्त हो चुका है इसलिए समकालीन यथार्थ की

दूर से खिंचकर आने वाली प्रतिध्वनियाँ
आपस में मिल जाती हैं
एक दूसरी में संक्रमण करती हैं
और फिर अन्धकार पूर्ण
आलिंगन में मूर्छित हो जाती हैं इसी तरह खुशबू रंग और आवाज
आपस में मिलकर एक हो जाते हैं
— शुद्ध कविता की खोज —दिनकर पृ० २७१।
नई कविता : स्वरूप और समस्याएँ पृ० २३४।

सही अभिव्यक्ति के लिए ताजी कविता की आवश्यकता है। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने अपने घोषणा-पत्र में पुराने प्रतीक, मध्ययुगीन बिम्ब योजना और बासी लिजलिजी भाषा को अस्वीकार कर नंगी और ताजी भाषा की माँग की। ताजी कविता जिस भाषा की खोज में है वह नंगी भाषा है—आवरणहीन, सज्जाहीन, संस्कारहीन और इन सबसे अधिक ऐसा नंगापन जिसमें आभिजात्य जंगलीपन के ऊपर एक समय बोध की छाप लगा सके। ताजी कविता बिना इस नंगी भाषा के नहीं चल सकती।"[1] ताजी कविता आज के जीवन की जटिलता, विसंगति, विघटन आदि को उदासीनता के स्तर पर 'एबसर्डिटी' और अर्थहीनता की पद्धति से प्रस्तुत करने का यत्न करती हैं। यह कविता रूढ़िवादी स्थिति का विरोध करती हुई किसी भी प्रकार की विचारधारा अथवा व्यक्तित्व की कृत्रिमता को स्वीकार नहीं करती। ताजी कविता का यह प्रयास तो श्लाघनीय है कि उसने जीवन की विसंगतियों को यथार्थ रूप से उजागर किया परन्तु केवल निरर्थकता मूल्यहीनता और एबसर्डिटी का ढोल पीटना ही सब कुछ नहीं है। यह ठीक है कि आज की इन विषम परिस्थितियों का जीवन पर दबाव है, परन्तु यही तो जीवन नहीं है।

ताजी कविता के नाम से छपने वाली बहुत सी कविताओं में भी ताजापन नजर नहीं आया। मुद्राराक्षस और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कविताएँ जो ताजी कविता के नाम से छपी थी वे भी ताजेपन को निभाने में असमर्थ रही। लक्ष्मीकान्त वर्मा और डॉ० जगदीश गुप्त में ताजी कविता को लेकर काफी छींटाकसी भी हुई। डॉ० जगदीश गुप्त के अनुसार ताजी कविता की असफलता के कारणों में प्रमुख थे—नये नामों की दौड़ में ताजी कविता एक कृत्रिम प्रयास था। ताजी कविता के घोषणा-पत्र में लक्ष्मीकान्त वर्मा ने बहुत जल्दी की, नई कविता के नये आयामों की ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया तथा ताजी कविता में किसी भी ताजेपन का आभास न मिल सका।[2] साठोत्तरी कविता के अन्य आन्दोलनों की भाँति ताजी कविता भी धूमकेतु की तरह चमक कर विलुप्त हो गई। "फिर भी ऐसा लगता है कि हिन्दी कविता के स्वाद परिवर्तन के लिए ताजी कविता की शुरूआत अच्छी रही इन अर्थों में कि उसके पश्चात् हर माह प्रत्येक नई पत्रिका अपना-अपना घोषणा-पत्र

१. नये प्रतिमान : पुराने निकष —लक्ष्मीकान्त वर्मा पृ० ३०० ।
२. न कविता : स्वरूप और समस्याएँ —डॉ० जगदीश गुप्त पृ० २५१-५२ ।

लेकर उपस्थित होने लगी; आये दिन हिन्दी कविता पर नई-नई तख्तियाँ लटकने लगीं।[1]

सनातन सूर्योदयी कविता—

'सनातन सूर्योदयी कविता' का नारा 'भारती' (मासिक) के सन् १९६२ के मार्च अंक में वीरेन्द्रकुमार जैन द्वारा दिया गया। नई कविता के उच्छृङ्खल अहंवाद के विरोध में यह नारा उठाया गया जिसे उन्होंने 'आगामी कल की ऊर्ध्वोन्मुखी नूतन कविता-धारा' कहा। यदि नई कविता 'लघुमानव' की बात कहती थी तो इस कविता में 'अतिमानव' की बात कही। सनातन सूर्योदयी कविता वर्तमान (आज) की अपेक्षा भविष्य (कल) पर अधिक ध्यान देती है। वीरेन्द्रकुमार जैन ने अपनी दार्शनिक शब्दावली में समझाया कि वर्तमान कविता के ह्रास (मृत्योन्मुखता) का कारण आज की मौजूदा कविता-पीढ़ी का ईश्वरद्रोही और क्षुद्र अहंकार से पीड़ित होना है। इस तरह परम भगवत सत्य की अवतारणा और दैवीय शक्तियों का संस्थापन जैन ने करना चाहा। इस कविता आन्दोलन के सन्दर्भ में अमृता भारती ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि उनकी (वीरेन्द्रकुमार जैन की) इस दीन स्थिति का राज क्या है? क्या यही नहीं कि उन्होंने पतन, पराजय, विकलता, कुण्ठा, सीमितता, एकाकीपन, आत्मनीति, लघुमानववाद, विद्रोह, यातना, रोग, बुढ़ापा, मौत को अपनी अन्तिम सीमा अथवा अन्तिम मान्य मान लिया है, कि उन्होंने असत्य को स्वीकार कर लिया है, कि उन्होंने स्थितिगत अस्थायी अवस्थाओं के सम्मुख अपने घुटने टेक दिए हैं और इन पर अपनी अन्तिम हार का हस्ताक्षर कर दिया है।"[2] विषाद और चिन्मय आनन्द, मृत्यु और अमृत, सीमा और असीम की आध्यात्मिक शब्दावली वाली यह कविता धारा समय के साथ न चलने के कारण शीघ्र ही काल कवलित हो गई। अपने मत की स्थापना का आग्रह रस में अधिक था समकालीन जीवन की पकड़ बहुत ढीली थी। डॉ० जगदीश गुप्त का विचार उल्लेखनीय है कि "दो तीन वर्षों में ही इस अभियान की क्या परिणति हुई इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि 'भारती' १९६४ के जनवरी अंक में 'नई कविता में चित्रित 'मानव' नामक लेख में डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने नई कविता की तृतीय धारा को 'अध्यात्मवादी प्रयोगवाद की धारा' बताते हुए

१. वातायन—सृजन मूल्यांकन अंक नवम्बर १९६६, पृ० ५० ।
२. माध्यम अप्रैल १९६६ पृ० ५८ ।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त के साथ वीरेन्द्रकुमार जैन आदि कवि के रूप में 'सनातन सूर्योदयी' कविता को नत्थी कर दिया।"[1]

श्मशानी पीढ़ी—

श्मशानी पीढ़ी पत्रिका में श्मशानी पीढ़ी के कवियों का प्रतिनिधित्व किया। ६ अंक निकलने के बाद इसी पत्रिका का नाम 'विभक्ति' हो गया। श्मशानी पीढ़ी के सम्पादक-कवि निर्मय मल्लिक का विचार है कि युवा पीढ़ी में संस्कारी गदहों की संख्या अधिक है क्योंकि अधिकतर कवियों की दृष्टि और उनका बोध पुरानखण्डी तथा बुजुआ है। इनकी मान्यता है कि श्मशानी पीढ़ी का कवि अपने परिवेश का साहित्य लिखता है इसलिए ही इन्होंने सव्यसाची, विष्णुचन्द्र शर्मा और विश्वम्भरनाथ उपाध्याय जैसे प्रगतिशील कवियों को भी श्मशानी कवि कह डाला। श्मशानी पीढ़ी के प्रमुख हस्ताक्षर सकलदीपसिंह हैं। इनकी मान्यता है कि श्मशानी कवि-लेखक में बोध-संवेदना और मानसिकता के स्तर में एक रूपता मिलती है। ये अपने परिवेश के कवि हैं। ये कवि चमत्कार का निषेध कर स्वाभाविकता के पक्षधर हैं। सभ्यता, संस्कृति, दया, प्रेम, मूल्य, इतिहास और मनुष्य इनके लिए परम्परा विहीन हैं। सकलदीपसिंह का विचार है कि "समकालीन लेखन के उस हिस्से को भी यह पीढ़ी नंगा करने पर अड़ी है जो सेठों की रंगीन पत्रिकाओं में पूंजीवादी लेखन परम्परा को जीवित रखे रहने की साजिश कर रहा है और सामाजिक स्वस्थता के नाम पर आर्य समाजी लहजे में अपनी अश्लील, लिजलिजी रोमांटिक संवेदना को प्रगतिशीलता या वाममार्गी रंग चढ़ाकर आज के करप्शन को आगे बढ़ा रहा है।"[2]

आज का कवि जिस संत्रास यंत्रणा और मृत्यु बोध का अनुभव कर रहा है उसे वह दूसरों को भी करा देना चाहता है। निर्मय मल्लिक जब यह कहते हैं कि "मेरे मरने के बाद मेरे शव पर वीर्यपात कर और मूतकर किसी रजस्वला औरत के कपड़ों में लपेटकर उस पार्लियामेंट में फेंक देना जहाँ मुर्दों की भीड़ लगी है और जो हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा कब्रिस्तान है"[3] तो इसका संकेत उस यथार्थ की ओर है जिसमें आज भारत की राजनीति के

१. नई कविता अंक—८, पृ० २४६।
२. विभक्ति—७, पृ० १६।
३. श्मशानी पीढ़ी—६, पृ० २७।

नीति निर्धारक एक विषैली सम्यता को जन्म दे रहे हैं जिससे पार्लियामेंन्ट जैसा पवित्र स्थल भी बदनाम हो रहा है। श्मशानी कवियों में यौन प्रतीक बहुत मिलते हैं तथा निर्मय मल्लिक अपनी भाषा और यौन प्रतीक के कारण अन्य कवियों से भिन्न लगते हैं। निर्मय मल्लिक का 'कुल्हाड़ी' उपन्यास श्मशानी के उद्देश्य को समझने में सहायता प्रदान करता है। श्मशानी कवियों ने सामाजिक ढाँचे को क्रान्ति से बदलने की इच्छा जाहिर की परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि इनकी क्रान्ति के मूल में सैक्स अथवा काम ही प्रमुख है। डॉ० रामदरस मिश्र के विचार में श्मशानी पीढ़ी उस ऊब को बढ़ाता है जो चौकाने वाले लोगों द्वारा अभी तक पैदा की जाती रही है तो डॉ० कृष्णभावुक इन रचनाओं में संयम की माँग करते हैं। कुछ लेखकों का विचार है कि श्मशानी पीढ़ी भारत में क्रान्ति की भूमिका निभायेगी परन्तु अभी तक ऐसा कोई लक्षण दिखाई नहीं दिया। भगवान् रजनीश जैसे प्रबुद्ध चिन्तक भी इस आन्दोलन के प्रभाव से न बच सके।

साठोत्तरी कविता—

साठोत्तरी कविता का संकलन कानपुर से सलिल गुप्त के सम्पादन में निकला। इसके छः कवियों में सुरेश सलिल, वैजनाथ गुप्त, ललित शुक्ल, चन्द्रेश गुप्त, सलिल गुप्त और जीवन शुक्ल को सम्मिलित किया गया। कवि की कविता के साथ उसका वक्तव्य तथा परिचय भी इसमें है। सलिल गुप्त ने साठोत्तरी कविता की चेतना को स्पष्ट करते हुए समझाया कि साठोत्तरी कविता का कवि अभिव्यक्ति के ढङ्ग पर नहीं बल्कि कथ्य की अधिकाधिक सम्प्रेषणीयता पर विश्वास करता है। उसका कथ्य आत्म अचेतन अथवा सैक्स न होकर आत्म-विस्फोट है जिसका जन्म दमन, नगण्य तथा नकारने जैसे शब्दों का प्रयोग करने के साथ हुआ है। इन कवियों का 'मैं' वैयक्तिक न होकर साठोत्तरी पीढ़ी का सामूहिक है। उनके विचार से जब प्रयोगवाद, नई कविता, नई समसामयिक परिस्थितियों के समक्ष 'आउट आव डेट' हो गई, तब नई पीढ़ी सामने आई और साठोत्तरी कविता का जन्म हुआ।[1] फार्मूला अथवा वाद का विरोध करते हुए अपनी चिन्तन पद्धति को पेश करते हुए उन्होंने लिखा कि 'साठोत्तरी कवि भीड़ या फार्मूले से बंधकर कविता नहीं लिखता है नारों तथा वादों का विरोधी है उसका अपना व्यक्तित्व तथा चिन्तन है। वह नये मूल्यों की स्थापना करने हेतु लिखता है। परम्परा का विरोधी है तथा आत्मोन्मुखी

१. साठोत्तरी कविता से —सलिल गुप्त, पृ० ८।

न होकर बहिर्मुखी है।"[1] वैजनाथ गुप्त ने कविता में कविता की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहा "कविता कविता है लँगड़ी भिन्न नहीं—ऐसी मेरी मान्यता है, किन्तु कथन का यह भी अभिप्रेत नहीं कि कविता आल्हा है। आजकल साहित्य के नाम पर बड़े-बड़े महन्त जो बलगम थूक रहे हैं, कुछ नामधारी आलोचक भी साहित्य की संज्ञा देकर बटोरने में संकोच नहीं करते।"[2] चन्द्रेश गुप्त साहित्य के नाम पर किसी भी प्रकार की खेमेबाजी को पसन्द नहीं करते हैं तो सलिल गुप्त कवि सम्मेलनी कविता को कविता के लिए घातक हथियार मानते हैं। साठोत्तरी कविता एक आस्था परक कविता है। इसकी वाद मुक्तता का नारा निश्चय ही स्तुत्य है परन्तु इन कवियों में अन्य आन्दोलनों के कवियों की भाँति स्थापित न हो पाने की कुण्ठा भी विद्यमान थी।[3] इस कथन से साठोत्तरी कविता आन्दोलन के कवियों की दोहरी मानसिकता का अन्दाज सहज ही लग सकता है।

ठोस कविता—

ठोस कविता का आन्दोलन सर्वप्रथम १९५३ में ब्राजील में उठा। इसे 'कांक्रीट पोएट्री' के नाम से भी पुकारा गया। इस कविता आन्दोलन के कवियों ने कविता को व्याकरण के नियमों से मुक्त कर उसे ग्राफिक कला की भाँति लिखना शुरू किया। जेसिआ रिचार्ड के अनुसार "यह एक ऐसी वैचारिक रचनात्मक क्रिया है जिसमें निश्चित सामग्री से एक ढाँचे का निर्माण किया जाता है जो किसी निश्चित विचार या पद्धति के अनुसार होता है।"[4] ठोस कविता का क्षेत्रफल व्यापक है क्योंकि इसका सम्बन्ध साहित्य, कला और संगीत तीनों के साथ है। जब इसमें सार्थक वाक्य रचना पर बल दिया जाता है तो इसका सम्बन्ध साहित्य से, अक्षरों, शब्दों और वाक्यों का ठीक अर्थ न लगने पर जब एक अमूर्त पैटर्न बने तब चित्रकला से और जब कविता पूर्ण ध्वन्यात्मक हो जाती है तो इसका सम्बन्ध संगीत से जुड़ जाता है। अपनी इन्हीं पद्धतियों द्वारा ठोस कविता आज की जीवन स्थितियों और मनःस्थितियों को चित्र, ध्वनि, रेखा, अंक आदि की सहायता से व्यक्त करती है

१. साठोत्तरी कविता, सं० सलिल गुप्त पृ० ९-१०।
२. वही, पृ० २४-२५।
३. नया काव्य नये मूल्य —ललित शुक्ल, पृ० २८१।
४. धर्मयुग ११ दिसम्बर १९६६, ठोस कविता : देश में लतीफा और विदेश में आन्दोलन —सौमित्र मोहन, पृ० १७।

जो अकाव्यात्मक पद्धति ही है। समसामयिक जीवन की सांकेतिक व्यंजना अथवा अभिव्यक्ति के बावजूद भी वह सतही और मात्र प्रयोगात्मक चेष्टा ही दिखाई देती है। कुर्सी (राजीव सक्सैना) टोटम जिसमें में मैं मैं की आवृत्ति है। (श्याम परमार) पोंच (सौमित्र मोहन) आदि ठोस कविताएँ चोंकाती भर हैं कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ती। डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम का विचार समीचीन लगता है कि 'वस्तुतः पश्चिमी काव्य-क्षेत्र की खिलवाड़ी और नवीनता का आग्रह रखने वाली शिल्पवादी प्रवृत्तियों का अनुकरण करने वाली इन रचना-चेष्टाओं का मूल्य चौकाने, नवीनता का आभास पैदा करने और आत्म-विज्ञापन करने से अधिक कुछ नहीं है।"[1] ठोस कविता भी अकविता की तरह घोर वैयक्तिक उपास ही था।

युयुत्सावादी कविता—

अप्रेल सन् १९६५ के लगभग एक आन्दोलन युयुत्सावादी कविता के नाम से रूपाम्बरा (कलकत्ता) की कोख से जन्मा है जिसके प्रमुख व्यक्तित्व थे शलभ' श्री रामसिंह। इसको बाद में 'युयुत्सा' नामक पत्रिका ने पल्लवित किया। युयुत्सावादी कवि संयत विद्रोह की बात लेकर आये। इसके घोषणा-पत्र के अनुसार युयुत्सावाद नई ईमानदार पीढ़ी के अन्दर उठता हुआ एक क्रांतिवाद है आधुनिकता जिसका नारा नहीं लक्ष्य है। रूपाम्बरा के सम्पादक स्वदेश भारती ने स्वीकार किया कि "मैं साहित्य सृजन की मूल प्रेरणा के रूप में उसी 'आदिम-युयुत्सा' को स्वीकारता हूँ जो कहीं न कहीं प्रत्येक क्रान्ति, परिवर्तन अथवा विघटन के मूल में प्रमुख रही है। वह युयुत्सा जिजीविषावादी, मुमूर्षावादी, विद्रोहात्मक अथवा 'प्लेटोनिक' कुछ भी हो सकती है।"[2] ये कवि चिन्तन के स्तर पर विद्रोह के समर्थक हैं। वे यांत्रिकता को गलत हाथों से मुक्त करना चाहते हैं। परन्तु इन कवियों ने परम्पराओं का भंजन कर अपने साहित्य को कल के लिए दिशाबोध करार देकर एक नई रूढ़ि के निर्माण करने का प्रयास किया। 'युयुत्सा पत्रिका में पहले तो युयुत्सावादी कविताओं के प्रति आग्रह रहा परन्तु बाद में उसका निर्वाह न हो सका। हाँ सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन और क्रान्ति के लिए उसका मोह वैसा ही बना रहा—"बुद्धिजीवियों और जनता का एकबद्ध होकर समाजवादी व्यवस्था की ओर द्रुतगति से बढ़ने के लिए क्रान्ति लाना ही एकमेव करणीय है जिसके बाद सारी समस्याएँ और

---

१. चिन्तन— लेख—साठोत्तरी हिन्दी कविता, पृ० १२६।
२. 'युयुत्सा' दिसम्बर ६७, पृ० ४।

अभाव हमेशा के लिए शेष हो जाते हैं। केवल उसी व्यवस्था में ही भाषा, जाति, सम्प्रदाय और धर्म के मसले सब स्वाभाविक रूप से और तीव्र गति से हमेशा के लिए समाप्त हो सकेंगे।"[1] डॉ० जगदीश गुप्त ने रूपाम्बरा के सम्पादक स्वदेश भारती के कथन को उद्घाटित करते हुए कहा कि वे जिजीषिणा और मुमूर्षा दोनों को एक ही मार्ग पर चलाना चाहते हैं जो स्वयं अन्तर्विरोधी हैं।[2] १५ अगस्त १९६८ को युयुत्सावादी कविता का संकलन 'युद्ध युद्ध युद्ध' प्रकाशित हुआ तथा अगले वर्ष २६ जनवरी, १९६९ को मुखौटे, सलीव, युद्ध, काव्य संकलन प्रकाशित हुआ जिसमें कवि थे—चन्द्रमौलि उपाध्याय, नीलम, राजीव सक्सैना, शरद, आनन्द सोनबलकर, रामाश्रय, सविता और उमेश। इसकी भूमिका में उमेश ने कहा था कि 'युद्ध सही भूमि पर सही कारणों और स्थितियों पर होना चाहिए। उसका थोड़ा सा भी कोंण बदल जाने पर वह अर्थ के स्थान पर अनर्थ-वाहक हो जाता है। क्रान्ति की पहली शर्त ही हर चीज को गलत समझना है, तभी विद्रोह में तेजी आयेगी, किन्तु नये निर्माण का नक्शा भी दिमाग में होना चाहिए वरना लक्ष्य भ्रष्ट विद्रोह केवल आत्म हन्ता ही साबित होता है।[3] चन्द्रमौलि उपाध्याय की कविता[4] 'युद्ध श्रेयस' में अपमानित धरती की चीत्कार को सुना जा सकता है।

---

१. युयुत्सा– दिसम्बर १९६७ पृ० ४।

२. नई कविता स्वरूप और समस्याएँ, पृ० २४४।

३. मुखौटे सलीब युद्ध, भूमिका।

४. सिर्फ धरती रहने दो, सिर्फ धरती
तुम उठा लो अपनी जाति मेरे वक्ष से
मैं बंजर नहीं रहूँगी
फिर कभी कोई पैदा होगा मनु जात
एक लाख साल के बाद
जिसके हाथों में होंगे
सही रचना के सामान
सच्चे विध्वंस के हथियार
इतिहास की सच्ची रास
तुम इतिहास को मुक्त कर दो
छोड़ दो मेरी छाती
मेरा मातृत्व अब सो जाना चाहता है।
—युद्ध श्रेयस —चन्द्रमौलि उपाध्याय, पृ० १०।

युग की संकटपूर्ण स्थितियों के प्रति ये कवि सजग थे तथा वर्तमान की विद्रूपताओं का इन्हें बोध था। अतः आदिम युयुत्सा की प्रवृत्तियों की ओर इनका झुकाव आधारहीन नहीं कहा जा सकता, सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन आवश्यक है परन्तु मानव नियति की अन्तिम परिणति युद्ध ही तो नहीं है। इन कवियों का अटूट विश्वास है कि युद्ध अनिवार्य है क्योंकि सत्य-अहिंसा का उपदेश देने वाले भी इसके मंडराते बादलों को टालने में सक्षम नहीं हो सके। युयुत्सावादी कविता ने कुछ अच्छी कविताएँ भी दीं परन्तु अपनी एकांगिता और वादी मनोवृत्ति के कारण युयुत्सावाद कुछेक रोचक प्रतिक्रियाएँ उभारने के अलावा कुछ खास योगदान न दे सका।

अस्वीकृत कविता—

अस्वीकृत कविता के साथ श्रीराम शुक्ल का नाम मुख्य रूप से जुड़ता है। यदि युयुत्सावादी कविता में युद्ध की मुद्रा है तो अस्वीकृत कविता में अस्वीकार का स्वर प्रखर हुआ है। इन दोनों कविता आन्दोलनों के मूल में विद्रोह है जो समस्त साठोत्तरी कविता का प्रमुख स्वर है। श्रीराम शुक्ल जब 'मरी हुई औरत के साथ संभोग' के लिए तैयार हो जाते हैं[१] तो वे अपने को अकविता वादियों की श्रेणी से नीचे नहीं रख पाते और उनकी ये मुद्रा एक अघोरी की मुद्रा दिखाई देती है। अस्वीकृत कविता को मसीहाई शैली में समझाया गया कि 'अस्वीकृत कविता परिवर्तनशील कविता है। हीट की कविता है। हमने महसूस किया, किसी दूसरे नक्षत्र का अन्तरिक्ष यात्री मेरी धरती के अनजाने और अदृश्य सुरम्य अंगों के फ्लैश स्नैप्स ले रहा है और हम खुश हो गए—मैं इस बात पर विरोध करता हूँ कि धरती ने अपने गुप्तांगों को खोला।'[२] उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि अस्वीकृति कविता के कवि ने अपने को पुरानी परिपाटी और काव्य-शैली से चिपकाना अच्छा नहीं समझा। रामेश्वरदयाल 'मानव' का विचार है कि 'एक समय तो हिन्दी नवलेखन में अस्वीकृत का ऐसा जोर चला कि कवि स्वयं अपने को भी अस्वीकृत कर बैठा।'[३] इस कविता की अनुभूति समस्त पीढ़ी की अनुभूति है। इन कवियों ने नये मुहावरों के प्रयोग का जोखिम उठाकर अपने को अन्य कवियों की अग्रणी

१. 'उत्कर्ष' जुलाई १९६६।
२ अर्थ–४ नवम्बर १९६६।
३. अर्थ–४ नवम्बर १९६६।

घोषित किया, परन्तु श्रीराम शुक्ल के अस्वीकार की मुद्रा में केवल गर्म, जवान और नंगी लड़की ही थी। इसलिए उन्होंने कहा 'मुझे मत छूना मैं कपूर हूँ।' श्रीराम शुक्ल की 'प्रतीक प्रश्न'[1] प्रश्न जैसी कविताओं के सन्दर्भ में जर्मन विद्वान्, लोठार, लुत्से का कथन सटीक लगता है कि 'यह एक ऐसा साहित्य है जिसकी चेष्टाएँ नितान्त, असाहित्यिक और साहित्य विरोधी है। साहित्यिक पेशावाद, उसकी घुसपैंठ और अहंकार की अस्वीकृति काबिल तारीफ है हालांकि नतीजा इसका भी असाहित्यवाद न होकर साहित्यवाद का निषेध है। इसके पीछे वह भयंकर रोग छिपा हुआ है जो परम्परागत हिन्दू मान्यताओं और इण्डो, विन्टो, रियन संहिताओं को नष्ट करने पर उतारू हैं।'[2] अस्वीकृत कविता को चर्चित करने के लिए 'न' पत्रिका सुशीलकुमार के सम्पादन में लखनऊ से निकली जिसमें नकार का स्वर ही प्रमुख था। बजरंग विस्नोई, विमल पाण्डे, नीलम आदि ने 'अर्थ' नामक पत्रिका में अनेक समीक्षात्मक लेख लिखे। राजकमल चौधरी और बंगाल की भूखी पीढ़ी के कवि मलयराज चौधरी को भी इस कविता के साथ नत्थी कर दिया गया। इस कविता आन्दोलन का दुर्भाग्य यह रहा कि इसमें वैयक्तिक सृजन (कविताएँ) कम हुआ—समीक्षाएँ और व्यवस्थाएँ अधिक हुई। कुछ कवियों ने राजनीतिक दाँवपेच की तरह विरोध के लिए विरोध करना ही अपना उद्देश्य बना लिया। यह आन्दोलन तो कालान्तर में समाप्त हो गया परन्तु अस्वीकार का स्वर आज तक है।

सहज कविता—

सहज कविता का नारा मार्च १९६७ में अलीगढ़ से डॉ० रवीन्द्र भ्रमर ने उठाया। वैसे डॉ० भ्रमर के अनुसार यह कोई नारा या सतही आन्दोलन नहीं है अपितु आज की अस्थिर तथा विषम काव्य परिस्थितियों में कविता की खोज है।"[3] सहज कविता सहजता और स्वाभाविकता की माँग करती है। सहज कविता की घोषणा में असामाजिक और अमानवीय क्रियाओं का निषेध

---

१. "रीता फारिया (विश्वसुन्दरी १९६६) अब अमेरिका के शिश्न पर विपरीत रति की मुद्रा में गिरती हुई भारतीयता का प्रतीक बन गई है और देश के हथौड़े अपनी विवशता में लब गए हैं।"

२. साहित्य : विविध सन्दर्भ —डॉ० लोठार लुत्से, पृ० ३४।

३. समकालीन हिन्दी कविता, —डॉ० रवीन्द्र भ्रमर प० १२०।

करते हुए युगीन और सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह कर लय और गद्यात्मकता दोनों की अतिशयता को असहज माना गया। अकविता की यौन प्रवृत्ति, अनपेक्षित मैनरिज्म शिल्प चमत्कार, मृत्युबोध तथा निराशा की प्रवृत्ति को सहज कविता ने स्वीकार नहीं किया। सहज कविता को प्रथम बार रूपायित करते हुए कहा गया कि रचनागत परिप्रेक्ष्य में सहज का दायित्व अनुभूति और अभिव्यक्ति की अनपेक्षित कृत्रिमताओं से बचने का दायित्व है जो अपने-आप में कला-साधना का प्रतिमान बनता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में 'सहज' शब्द का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ लेना होगा—'सहजायते इति सहज' अर्थात् जो रचना यथार्थ अनुभूति-संवेग के साथ वाणी के मूर्त माध्यम में जन्म लेती है, वह सहज है। इस दृष्टि से अनुभूति की प्रामाणिकता प्राथमिक वस्तु है।'[1] इस प्रकार सहज कविता में 'सहज' का अर्थ सरल न होकर कृत्रिमता की लकीर से हटने के लिए स्वाभाविकता के लिए प्रयुक्त हुआ है।

सहज कविता का संकलन १९६८ में सामने आया जिसमें ४१ कवियों की ६२ कविताएँ थीं। कविता के सम्बन्ध में कुछ नये-पुराने कवियों तथा आलोचकों के वक्तव्य भी इसमें है। सहज कविता के कवि किसी प्रकार की सहजता का परिचय न दे सके, क्योंकि इसमें घुमा-फिराकर बहुत से वही कवि मौजूद थे जो समकालीन अन्य आन्दोलनों के साथ भी किसी न किसी रूप में जुड़े हुए थे।

अगली कविता—

अगली कविता का प्रकाशन ओमानन्द रूपराम सारस्वत ने १९६५ में वल्लभ विद्यानगर (गुजरात) से किया। अगली कविता के अनुसार अकविता आदि की अनास्था, कुंठा विषाद तथा पीड़ाओं के लिए इस कविता में कोई स्थान नहीं है। इस कविता के घोषणा-पत्र से मालूम होता है कि ये कवि लकीर की खोज में नहीं है वरन् एक सुनिश्चित पथ की ओर अग्रसर हो रहे हैं। "हम राहों के अन्वेषी नहीं है। एक सुनिश्चित मार्ग है हमारे सामने—'आस्था का, विश्वास का, जीने का, अनुवाचन की लयात्मक तीव्रता में भावनाओं की बुद्धि-प्रसूत प्रेरणाओं की साकार अभिव्यक्ति का।"[2] उनके अनुसार आगे की कविता मृत्योन्मुखी कविता न होकर आस्था-परक कविता होगी

१. सहज कविता —सं० डॉ० रवीन्द्र भ्रमर, पृ०　　।

२. अगली कविता–१ से —ओ० रू० सा०, पृ० १।

जो जीवन जीने के लिए और जीना जीवन के लिए प्रस्तुत करने वाली आस्था की सामाजिक भूमि है। व्यक्ति-जीवन की जिजीविषा और गतिशीलता इस बात की द्योतक है कि हमारी परिणति मृत्युन्मुखता नहीं है। हम एक सार्थक जीवन जिएँ केवल पीड़ा कुण्ठाओं तथा अनास्था आदि की धुरी पर ही ठहर जाना एक अमुक लक्षण है। लेकिन इन सबको भोगते हुए जीने की क्षमता को बढ़ाना उसे पीढ़ियों दर पीढ़ियों तक संजोये रखना 'अगली कविता' का उद्देश्य है। इसके बावजूद भी अगली कविता के अंकों[1] में बहुत सी ऐसी कविताएँ मिल जाती हैं जो स्वयं उसके घोषणा-पत्र से मेल नहीं खाती हैं।

विचार कविता—

'विचार कविता' शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम १९७० में श्याम परमार ने किया। 'मत न्तर' पत्रिका के मार्च १९७० के अंक में उनकी तीन कविताएँ इसी के नाम से छपीं। गिरिजाकुमार माथुर की एक कविता इसी वर्ष धर्मयुग में 'इतिहास के जर्राहों से' छपी जिसे उन्होंने 'विचार कोलाज' कहा था। 'सचेतना' के सम्पादक महीपसिंह और नरेन्द्रमोहन ने दिल्ली से संचेतना का विचार कवितांक निकाला। बाद में यह संकलन रूप में १९७३ में प्रकाशित हुआ इसमें संग्रहीत ३६ कवियों की कविताओं को पाँच भागों में बाँटा गया है—संघर्ष की नियति, कल की लड़ाई के लिए, वर्तमान से संवाद करते हुए, विद्रोह की विडम्बना, विसंगत परिवेश में। विद्रोह की विडम्बना शीर्षक में ८ कवि तथा शेष चार में ७, ७ कवि हैं। इसमें समीक्षक और कवियों के वक्तव्य भी हैं। विचार कविता की रूपरेखा को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि "विचार कविता का तात्कालिक सन्दर्भ इतिहास या दर्शन या अन्य कोई सिद्धान्त न होकर समसामयिक स्थिति ही है।"[2] विचार कविता का सम्बन्ध किसी वाद विशेष से नहीं है। यह तो अनुभव से आगे की कविता है। क्योंकि आज की कविता अनुभव की कविता है परन्तु जीवन के सत्य को परखने के लिए अनुभव और विचार में टकराव आवश्यक है। 'विचार कविता समसामयिक स्थितियों की गहरी समझ और पहचान पर बल देती है और इसमें भावुक या रोमानी हुए बगैर व्यक्तियों और स्थितियों के भीतर की विसंगति और विडम्बना का उद्घाटन किया

१. अगली कविता १, २, ३ —ओ० क० सा०।
२. विचार कविता की भूमिका —नरेन्द्र मोहन, पृ० १५।

जाता है।"[१] नित्यानन्द तिवारी का विचार है कि 'आधुनिक युग में आस्था और विश्वास का स्थानापन्न है विचार। आधुनिक युग पर सरसरी निगाह डालने वाले को भी यह आभास होगा कि विचार और चिन्तन की प्रवृत्ति ने ही उसे मध्ययुग से अलगाया है।"[२] अतः स्पष्ट है कि आज की विषम स्थिति से साक्षात्कार अथवा उसे समझने की प्रक्रिया लिजलिजे अनुभव से नहीं हो सकती उसके लिए विचार की बहुत जरूरत है परन्तु कोरा विचार कविता को ह्रास की ओर ही ले जायेगा। 'विचार कविता' में अनुभूति और विचार के सन्तुलन को ही अपना मार्ग घोषित किया है। इस तरह वस्तु और शिल्प के सन्तुलन[३] की बात इन कवियों ने उठाई है। इस तरह से विचार कविता में अनुभव को स्थान देकर भी विचार को महत्ता प्रदान की गई। डॉ० रामदरश मिश्र के अनुसार विचार के बिना कविता की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। 'आज की कोई भी स्वस्थ कविता वह चाहे गीत ही क्यों न हो, विचार से मुक्त नहीं रह सकती।[४] विचार कविता में नये जीवन सत्यों की खोज, मूल्यों के अन्वेषण और सामाजिक साक्षात्कार की बात कही गई। मगर विचार कविता ने सम्पूर्ण भावुकता अथवा रोमानी प्रवृत्ति को त्याग दिया है इससे वेणुगोपाल सहमत नहीं है उनका मत है कि 'विचार कविता के सन्दर्भ में दिये गये विचार-सूत्रों का रुझान, प्रेम कविताओं या वैसी अन्य कविताओं के विरोध में है। मैं खुद को इसके खिलाफ पाता हूँ।'[५] इस देश का

१. विचार कविता की भूमिका, विचार कविता का संसार, —हरदयाल पृ० ३१।
२. विचार कविता की भूमिका, विचार और काव्य का आधुनिक विघटन, पृ० १७।
३. "जिस तरह शत-प्रतिशत विचारात्मकता कविता को निष्प्राण बनाती है, उसी तरह शत-प्रतिशत कलात्मकता उसे कविता नहीं, सिर्फ कम्पोजिशन रहने देती है।"
—विचार कविता की भूमिका, विचार और कलात्मकता का सन्तुलन, ऋतुराज, पृ० ५८।
४. विचार कविता की भूमिका, विचार कविता : एक सशक्त आयाम, पृ० ६५।
५. विचार कविता की भूमिका, विचार कविता : सक्रिय जागरूकता का प्रश्न, पृ० ।

राजनीतिज्ञ पिछले २०-२५ वर्ष से अपने विचारों का भारत बना रहा है और उसके विचार का हिन्दुस्तान इस प्रकार है—

एक ठहरे हुए दलदल को
जाहिल व गंवार हिन्दुस्तान को
किसी सहस मतदाता की पीठ पर चढ़कर
उसे घोड़े की तरह लतियाते हुए
हाँकते हुए—
एक ठहरा हुआ नरक
और उससे ऊपर उठी हुई
चन्द इमारतें गलीचों के ऊपर चमचमाती
मेजें............
पूरा हिन्दुस्तान एक 'रोश गल्ला'
और हड़प............[1]

विचार कविता में 'वस्तु' का प्राधान्य है। राजीव सक्सेना के विचार में विचार कविता की अवधारणा शिल्प परक नहीं, विषय-वस्तु परक है। वह तो यथार्थ जगत के संवेदन को, उसके तमाम अन्तर्विरोधों सहित, सर्वाङ्ग और गतिशील रूप में ग्रहण करने की एक यथार्थोन्मुखी, गैर रूमानी प्रणाली है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए विषय-वस्तु के अनुरूप अलग-अलग पैटर्न हो सकते हैं—सहज संवाद से लेकर फंतासी तक।[2] इस तरह से विचार कविता अभिव्यक्ति में सरल तथा सपाट नहीं है। यह जटिल रचना-संसार की संगति ठोस सन्दर्भों में खोजती है। इन कवियों का विचार है कि वर्तमान की बदली हुई स्थितियों का सही मूल्यांकन विचार कविता ही कर सकती है। चन्द्रकान्त देवताले के विचार में युवा कविता और विचार कविता में अभेद है क्योंकि 'कमोवेश रूप में विचार-कविता का मसौदा वही है जो आज की युवा कविता का चरित्र और स्वभाव है।'[3] परन्तु देवताले विचार कविता नाम को सार्थक नहीं मानते।[4] इसी प्रकार का मत वेणुगोपाल का है।

१. विचार कविता की भूमिका, 'तस्वीर' —ऋतुराज, पृ० १८३।
२. विचार कविता की भूमिका —विचार कविता की अवधारणा, पृ० ५३।
३. वही, सीमेंन्ट कांक्रीट कविता का खतरा, पृ० ७०।
४. चन्द्रकान्त देवताले के १२–५–७६ के पत्र के आधार पर।

उनके अनुसार 'विचार कविता कहना उतना ही निरर्थक हास्यास्पद है जितना आदमी को हड्डी-आदमी कहना।'[१] विचार न्यूनाधिक रूप में कविता के साथ आदि काल से ही रहा है फिर उसमें उसके महत्व के प्रदर्शन की आवश्यकता को इतना महत्व क्यों दिया गया। चाहे इस कविता के कवियों ने इसे आन्दोलन नहीं माना परन्तु इसकी प्रकृति साठोत्तरी कविता के अन्य आन्दोलनों की भाँति ही है जो शनैः-शनैः खुद व खुद ठण्डी पड़ती गई।

अन्य आन्दोलन—

अनियमित कालीन प्रकाशनों में 'आज की कविता' में आज की कविता को प्रकाश में लाया गया। आज की कविता केवल वर्तमान परिवेश में आज के व्यक्ति को देखने का प्रयास करती है। कल की नियति को वे आज की प्रक्रिया में समेटते हैं।'[२] आज की अस्पष्ट जीवन स्थितियों की अभिव्यक्ति तथा सामाजिक दायित्व का निर्वाह करते हुए आदर्शोन्मुख यथार्थ ही आज की कविता का लक्ष्य है। वह कुण्ठा और अनास्था की विरोधी है। वे नकली यथार्थ अथवा आपातित दर्शन को स्वीकार नहीं करते। इस सन्दर्भ में डॉ० पूनम दइया का कथन दृष्टव्य है।[३] 'गोपालकृष्ण सर्राफ, हरीश मादानी, प्रभा नेतान, होतीलाल भारद्वाज आदि कवि 'आज की कविता' के अंक—१ व २ में संग्रहीत हैं। 'कोलाज कविता' का प्रयास भी इस काल में चला जिसमें अधूरे बेतरतीब वाक्य जिनसे न कोई अर्थ निकल सकता है तथा न वाक्य ही बन सकता है इस कविता का रचना विधान है। कोलाज कविता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया। कविता की प्रक्रिया आज तालच्युत, निर्वासित मानस के 'कोलाज' वृत्त में आती जा रही है: अधूरे काव्यों की कतरनें औवस्थ उलजलूलियत और खण्डित फेंटेसी का अपूर्णत्व ही उसका वास्तव्य है। ऐसी कविताएँ कविता के स्वीकृति मूल्यों और पाशु-प्रक्रिया से भिन्न होती हैं।[४] राजा दुबे ने 'पोस्टर कविता' का प्रयास भी किया। राजकुमार कुंगज जैसे कवियों ने 'कविता प्रदर्शनी' का प्रयोग भी किया है। वैज्ञानिक युग का प्रभाव कविता पर इतना पड़ा कि अब 'कम्प्यूटर कविता' ने भी जन्म ले लिया है। आज जो सबसे स्तुत्य बात है वह है कि विदेशी माल का आयात बन्द हो गया है।

---

१. विचार कविता की भूमिका— पृ० ८१।

२. वातायन— नवम्बर १६६६ पृ० ४३।

३, आज की कविता अंक—२।

४. विजप— पृ० ११३।

स्वयं भारत में भी इन आन्दोलन के प्रति कोई दिलचस्पी न रहकर अब सभी कवि व आलोचक कविता की ही माँग कर रहे हैं। किसी आन्दोलन की नहीं। ज़्यादातर आन्दोलन द्वितीया के चन्द्रमाकी भाँति उदय हुए थे जो अल्पावधि में ही विलीन हो गए। डॉ० जगदीश गुप्त समस्त साठोत्तरी काव्यान्दोलनों को 'पेरासाइट' की संज्ञा देते हैं जो नई कविता से ही पोषित है। उनका विचार है कि नई कविता साहित्य के क्षेत्र में विषैले वृक्षों का पोषण नहीं करेगी। "नई कविता अपनी अप्रतिहत पाणिशक्ति से उसे (पेरासाइट को) भी पल्लवित पुष्पित करने में निजी सार्थकता ही समझती रही है और आगे भी समझती रहेगी। हांडविष-वृक्षों का पोषण वह अवश्य ही नहीं चाहेगी क्योंकि अभी उसने अपने विवेक को तिलांजलि नहीं दी है और उन्हें निर्जीव बना देने की शक्ति भी उसमें है ही।"[1]

साठोत्तरी कविता के प्रमुख काव्यान्दोलनों का अध्ययन करने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इसमें अधिकतर कवि अपना अस्तित्व स्थापित करने के लिए मैदान में उतरे। लगता है जैसे प्रत्येक को कोई नया सगूफा छोड़ने की धुन सवार हो गई हो। कविता पर विभिन्न नामों के छोटे-बड़े लेबिल इस एक दशक की काव्य यात्रा में देखे जा सकते हैं। साठोत्तरी कविता के विभिन्न काव्यान्दोलनों के सम्बन्ध में डॉ० प्रेमशंकर का मत है कि 'रचना के सैकड़ों आन्दोलन या फिर रोज-रोज उठने वाले नारे प्रकारान्तर से रचना की अपनी दुर्बलता का ही दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं, अन्यथा रचना में जब भीतरी ताकत होती है, तब उसे व्यर्थ के मुखौटों की जरूरत नहीं पड़ती।[2] विभिन्न आन्दोलनों से ज्ञात होता है कि इनमें एक पक्ष अकवियों का है तथा दूसरा प्रतिबद्ध कवियों का। साठोत्तरी कविता के विभिन्न काव्यान्दोलनों की अल्पायु में मृत्यु का कारण ही यह रहा कि वे अतिवादी हो गए थे। चमत्कार के साथ-साथ जिनमें जमीन की पकड़ अधिक थी वे आन्दोलन चर्चित भी हुए। सभी आन्दोलनों के मूल में व्यवस्था विरोध, अस्वीकार तथा विद्रोह के स्वर हैं इनकी मूल चेतना एक ही है।

साठोत्तरी कविता : नये काव्य-शास्त्र की सम्भावना—

नई कविता के प्रवर्तक डॉ० जगदीश गुप्त ने 'बुद्धिरस' की बात कहकर काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत एक नये 'रस' की सम्भावना को बल दिया।

१. नई कविता— पृ० २६७।

२. वीणा अगस्त १९७२, आधुनिक रचना का संकट —डॉ० प्रेमशंकर पृ० २६।

साठोत्तरी कवियों ने भी बार-बार इस बात को दोहराया कि उनकी कविताओं का मूल्यांकन प्राचीन काव्य-शास्त्रीय मानदण्डों के आधार पर न किया जाय। नये युग के साथ नये मानदण्ड गढ़ने की बात कवि समीक्षक बार-बार करते रहे हैं। यही कारण है कि प्राचीन काव्य-शास्त्रीय कसौटी पर युवा कविता खरी नहीं उतरती। अतः इस कविता के लिए एक नए काव्य-शास्त्र की आवश्यकता बलवती हो जाती है।

(१) कविता का स्वरूप और उसकी भूमिका—

साठोत्तरी कवियों ने बार-बार 'कविता' की व्याख्या करनी चाही है। उनका सारा जोर इस बात पर है कि हम जो कविताएँ लिख रहे हैं, उनका स्वरूप और उनका उद्देश्य पिछली पीढ़ी की कविताओं से साफ अलगाव लिए हुए हैं। उनके लिए कविता मानसिक विलास की वस्तु नहीं है और न इसका उपयोग अपनी कुण्ठाओं को व्यक्त करने के लिए किया गया है। अकविता सम्प्रदाय के कवियों ने भी कविता को निजी मामला नहीं माना है। यदि गंगाप्रसाद विमल के लिए कविता एक दूसरे तक पहुँचने के लिए एक पुल है[१] तो श्याम परमार उसे कवि के व्यक्तित्व, अनुभव और यन्त्रणाओं की पहचान के रूप में देखते हैं—

> गोया तुम्हारी कविता
> कविता नहीं—तुम्हारा नाम होती है
> जात होती हैं या यन्त्रणाओं में पहचान के लिए
> तुम होते हो
> तुम्हारी अहमियत होती है
> कविता नहीं होती[२]

१. ..... कविता आदमी का निजी मामला नहीं
एक दूसरे तक पहुँचने के लिए एक पुल है
....
वक्त आ गया है
कि वही आदमी पुल बनाएगा
जो पुल पर चलते आदमी की हिफाजत कर सकेगा
—निषेध, पुल पर आदमी पृ० १६७-६८।

२. कविताएँ : कविता के बाहर, पृ० २१।

अकवि कविता के मिजाज से अधिक उसके अन्दाज पर बल देते हैं। जाहिर है कि वे कविता के शिल्प पर अधिक जोर देते हैं[१] इसके विपरीत प्रतिबद्ध कवियों ने कविता के विचार पक्ष को महत्व दिया है। धूमिल का यह कथन कि 'एक सही कविता/पहले/एक सार्थक वक्तव्य होती है, इसी ओर संकेत करता है। धूमिल ने कविता को कठघरे में खड़े बेकसूर आदमी का हलफनामा[२] कहकर उसे जिस सच्चाई, ईमानदारी से जोड़ा है, वह भी कविता के वस्तु पक्ष से ही अधिक सम्बद्ध है। धूमिल के लिए कविता प्राय: आतंक के बीच जन्मी हुई चीज है। जब वे कविता को घेराव में किसी बोखलाये हुए आदमी का संक्षिप्त एकालाप[३] कहते हैं तब जोर एकालाप पर उतना नहीं जितना घेराव में आदमी के बोखलाने पर। कविता को सन्निपात का पुल[४] कहना भी इसी से मिलती-जुलती बात है शिल्प पर यहाँ बल कतई नहीं है। अमृता भारती के अनुसार 'कविता केवल अभिव्यक्ति नहीं है, कवि की जिन्दगी है। लिखा अनलिखा सब उसके भीतर समाहित है।[५] केदारनाथसिंह ने नये काव्य-शास्त्र का हवाला देकर यह स्पष्ट करना चाहा है कि अब कविता सहजकर्म न रहकर बहुत कठिन और कौशलपूर्ण कर्म बन चुका है। उन्होंने 'वस्तु' के स्वाद को शिल्प के चातुर्य से सम्प्रेष्य बनाने की कठिनाई सामने रखी है।

---

१. कविता के आगे भी एक तासीर का मुझे
एहसास होता है
कविता को कविता से और भी आगे ले जाता है
उसका अन्दाज
—कविताएँ, कविता के आधार —श्याम परमार पृ० १५।

२. कविता
शब्दों की अदालत में
मुजरिम के कटघरे में खड़े बेकसूर आदमी का
हलफनामा है।
—संसद से सड़क तक, मुनासिब कार्यवाही, पृ० ८१।

३. वही, पृ० १०।

४. जिन्दा कविता / सन्निपात का पुल है
—पहचान ३/४ कछुए की पीठ पर —रमेशचन्द्र शाह पृ० २।

५. प्रक्रिया पृ० २७।

अब
नये काव्यशास्त्र के अनुसार
मुँह में बचे हुए चावल के स्वाद को
कुछ सहृदय कंकड़ियों के हस्तक्षेप से
बचाने का नाम है
कविता[1]

कविता जीवन से संपृक्ति—

साठोत्तरी कवि कविता को अनन्त पुण्य का फल नहीं मानता। किसी अलौकिक या दैवीय देन के रूप में कविता को स्वीकारना उसे स्वीकार नहीं। वह कविता को उसी प्रकार जीवन का अङ्ग मानता है जिस प्रकार सूरज, चन्द्रमा, हवा और धूप जीवन से अलग नहीं है।[2] छबिनाथ मिश्र जैसे कुछ कवियों को छोड़ दिया जाय, जिनके लिए कविता उबकाई जैसी चीज है,[3] तो अधिकतर कवियों ने इसे गम्भीर कर्म के रूप में लिया है। साठोत्तरी कवि कविता को नारा लगाने या चिड़िया पर रंग फेंकने जैसी बचकानी हरकत नहीं मानते—

कविता नहीं है कोई नारा
जिसे चुपचाप इस शहर की

---

१. ज्ञानोदय, दिसम्बर १९६८, पृ० २१ से उद्धृत।

२. कविता कोई अलग किया नहीं है
सूरज का चमकना, चन्द्रमा का ओझल
होना, हवा की चुप्पी
धूप का विहलना - ये
सब भी कोई अलग क्रियाएँ नहीं हैं। जीवन
जड़ता का ही एक पहलू है इन्हें
और मुझे एक ही तरह जिये जाना है
और यही सार मेरे शरीर से झरता हुआ
कविता बनकर सब ओर फैल जाता है।
वीणा, अगस्त १९६६, अकवितांक अंक—ऋतुराज, पृ० ४६० से।

३. कविता मेरे भीतर एक ठंसी हुई चीज है
जो उबकाई के साथ बदतमीज की तरह
बाहर आ जाती है
—समीक्षा, मई १९७२, पृ० १२ के आधार पर।

सड़कों पर लिखकर घोषित कर दूँ
कि 'क्रान्ति हो गयी'
न ही बचपना
कि किसी चिड़िया पर रंग फेंककर
चिल्लाने लगूँ
'अब यह मेरी है'[1]

तुम्हें पता है मेरी कविता चिल्लाकर नारे लगाना नहीं जानती
उसे मैं इशारों की कुतिया नहीं बना सकता[2]

जहाँ तक कविता की भूमिका का प्रश्न है युवा कवि इसकी सार्थकता के प्रति अधिक आश्वस्त नहीं हैं। ऋतुराज को लगता है कि कविता कोई अनिवार्य प्रश्न नहीं है[3] चन्द्रकान्त देवताले भी जानना चाहते हैं कि 'मैं कविताएँ फेंकता रहूँगा / अब तक / आखिर कब तक / अपनी हड्डियाँ तेजाब में धरता रहूँगा।[4] इस प्रकार के अनिश्चय और संशय के बावजूद कवियों ने कविताएँ लिखी हैं कवितान्त की घोषणा के साथ-साथ कविता लिखते जाना कवियों की दोहरी मानसिकता को व्यक्त करता है इस सन्दर्भ में डॉ० नन्दकिशोर नवल की यह टिप्पणी बिल्कुल सही है। 'कविता की भूमिका को लेकर इस पीढ़ी के कवियों ने अपनी कविताओं में काफी चिन्तन किया है और सभी प्रायः इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह एक निरर्थक 'वस्तु' है। यह विरोधाभास है कि ऐसा महसूस करने वाले कवि भी कविता लिखकर ही अपनी सार्थकता प्रकाशित करते रहे हैं।[5] यह सच है कि कविता आज कोई बड़ा परिवर्तन नहीं ला सकती लेकिन परिवर्तन के अनुकूल माहौल तो बना

---

१. कुबानो नबी —पथराव, पृ० ८९।
२. कविताएँ कविता के बाहर, —कविता से आगे, पृ० १३।
३. कविता कोई
अनिवार्य प्रश्न नहीं है
जो हम करें और
करते जाएँ
— कविताएँ— १९६४, कविता, पृ० २२।
४. दीवारों पर खून से, —कवितांत के अँधेरे में, पृ० १२।
५. समीक्षा, फरवरी-अप्रैल १९७६, पृ० १९।

ही सकती है। कुछ कवियों ने कविता द्वारा विरोध पक्ष की भूमिका निभाने की बात कही है—

अब मैं कवि नहीं रहा
एक काला झंडा हूँ।
तिरपन करोड़ भोहों के बीच मातम में
खड़ी है मेरी कविता[1]

गंगाप्रसाद विमल ने भी साठ के बाद की कविता की प्रमुख प्रवृत्ति विरोध मानी है। वास्तव में केवल विरोध-अन्धा विरोध कविता की एकांगी भूमिका प्रदर्शित करता है सही का समर्थन और गलत का विरोध यही कविता का दायित्व है जिन कवियों में यह चेतना है वे बहुत मूल्यवान और उपयोगी लिख सके हैं।

२. वस्तु और शिल्प : साठोत्तरी काव्य दृष्टि—

कविता के विषय-वस्तु शिल्प को लेकर नई कविता से पूर्व कवियों में कोई खास चेतना देखने को नहीं मिलती। नई कविता में भी विषय और वस्तु को एक साथ गड्ड-मड्ड कर दिया गया है।[2] इस सन्दर्भ में जहाँ तक भारतीय साहित्य चिन्तन परम्परा का प्रश्न है वहाँ तो शिल्प के ऊपर वस्तु की प्रमुखता मिलती है 'साहित्य में विषय-वस्तु पर बल देने का अर्थ है यथार्थ जगत के सत्य का पूर्ण गहरा ज्ञान, मूर्त और ठोस रूप से युग सत्य की पहचान।'[3] वस्तु की आधुनिक अवधारणा विभाव को ही वस्तु मानने वाली भारतीय अवधारणा से मेल खाती है। 'वस्तु' और 'कथ्य को कुछ विचारकों ने एक दूसरे से प्रथक करके देखा है। राजेन्द्रप्रसादसिंह का विचार है 'कथ्य की जो बुनावट (   ) पूरी रचना में प्रकट होती है वही तह पर तह वस्तु (   ) होती है।'[4] डॉ० नन्दकुमार राय काव्य में कथ्य की अपेक्षा वस्तु पद को अधिक उपयुक्त मानते हैं।[5] वास्तव में कथ्य और वस्तु में अभेद है।

---

१. समकालीन कविता की बिल्कुल नई प्रवृत्ति विरोध की कविता है'
—प्रक्रिया —प्रक्रिया और कविता, पृ १८।
२. तीसरा सप्तक —अज्ञेय पृ० १६।
३. १–३–७४ के पत्र के आधार पर।
४. ११–४–७४ के पत्र के आधार पर।
५. विचार कविता की भूमिका —राजीव सक्सेना, पृ० ५३।

साठोत्तरी कविता के प्रमुख काव्यान्दोलन वस्तु को अधिक महत्व देते हैं। अकविता में मुख्यतः मूल्यों, नैतिक धारणाओं और संस्कारों के अस्वीकार की बात है जो कि 'वस्तु' के अन्तर्गत ही आती है। प्रतिबद्ध कवि भी शिल्प के प्रति उतने सचेत नहीं है जितने अपने काव्य-वस्तु को नया समकालीन और प्रासंगिक बनाने के लिए लालायित है 'विचार कविता की अवधारणा शिल्पपरक नहीं विषय-वस्तु परक है।' विचार कविता के पक्षधरों का विचार है कि काव्यानुभव में भावना से अधिक योग विचार का है। यह विचार निश्चय ही काव्य-वस्तु का एक अङ्ग है। डॉ० महेन्द्र भटनागर कविता में शिल्प के अस्तित्व को तो स्वीकार करते हैं परन्तु गौड़ रूप में ही। रचना शैली का अपना महत्व है पर प्रधानतत्व कथ्य ही है।

माना कि रचना शैली की विविधता एवं नवीनता तथा नये-नये प्रयोगों के महत्व को कम नहीं किया जा सकता; पर कवि कर्म का वह अथ है, इति नहीं।"[1] लेकिन समझदार कवियों और समीक्षकों को इस बात का अहसास है कविता में कथ्य और कलात्मकता का सन्तुलन नहीं बिगड़ना चाहिए।[2] इस प्रकार कविता न तो शब्दों का कोरा विधान है और न भोंडे ढङ्ग से अनुभवों की प्रस्तुति ही कविता कही जा सकती है। यह अवश्य है कि अनुभूति की मौलिकता सर्वाधिक आवश्यक है[3] मौलिक अनुभूतियों को उपलब्ध करने के लिए किसी कल्पना विलास या निर्वासन की आवश्यकता नहीं है देश, राजनीति व्यवस्था और समाज आदि का एक लम्बा क्षेत्र खुला पड़ा है, जहाँ से अनुभव प्राप्त किए जा सकते है। युवा कवि मौजूदा मानवीय स्थिति की व्याख्या और विश्लेषण से गुजरकर कविता को पाना चाहता है। उसने सार्त्र के इस कथन को काफी हद तक अपना समर्थन दिया है कि जो कविता आज की त्रासदी, विडम्बना, पराजय, क्रोध और निरर्थकता से

१. प्रक्रिया —सं० राजेन्द्रप्रसादसिंह, रचना-प्रक्रिया : तथ्य, पृ० १७७।

२. विचार कविता की भूमिका —ऋतुराज, पृ० ५७।

३. "अनुभूति की मौलिकता यानी कथ्य की सचाई एक अहम् प्रश्न है, जिससे भागकर शब्दों के पत्थर एकत्र कर लेने मात्र से कविता के महल की निर्मिति नहीं हो सकती।"
—लहर जुलाई १९७० युवा कविता : दो प्रश्न चिह्न — रामदेव आचार्य पृ० ३४।

कतराती है वह आज की कविता नहीं है और जो आज की कविता नहीं, वह कविता ही नहीं।"[१]

इस प्रकार स्पष्ट है कि युवा कवि कविता में वस्तु पक्ष पर जोर देते हुए भी वस्तु और शिल्प के सन्तुलन का हामी है। यह सही और सन्तुलित दृष्टिकोण है क्योंकि वस्तु और रूप का अनन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।[२] वस्तु जितनी ही गहरी और संश्लिष्ट होगी रूप उतना ही समृद्ध और समर्थ होगा।

निष्कर्ष—

स्वतन्त्रता के पच्चीस वर्षों के इतिहास में पहला लगभग डेढ़ दशक सम्मोहन का काल रहा तथा उसके पश्चात् मोहभंग का काल। स्वतन्त्रता के मूल में जो आशा और विश्वास भारतीयों ने संजो रखे थे जब वे पूरे नहीं हुए तो उनमें एक प्रकार की निराशा, आक्रोश तथा विद्रोह की भावना जाग्रत हुई। भारत को सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सभी क्षेत्रों मे सफलता न मिली। सन् ६० के पश्चात् भारतवर्ष में परिस्थितियाँ इतनी भयावह हो उठी थीं कि उसने मानव के मूल्यों को झकझोर दिया। मार्क्सवाद, अस्तित्व-वादी चिन्तन तथा आधुनिकता बोध ने भी हमारी परम्परागत मान्यताओं तथा नैतिकताओं के समक्ष प्रश्न चिह्न लगा दिया। आदमी में इन मान्यताओं के प्रति अस्वीकार का भाव जाग्रत हुआ। देश के इस बदले हुए वातावरण ने एक नई काव्य संवेदना को जन्म दिया। सन् ६० के पश्चात् जो परम्परामुक्त तथा एक खास किस्म की कविता सामने आई उसे ही युवा कविता अथवा साठोत्तरी कविता के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह कविता वस्तु और वस्तु शिल्प में अपनी पूर्ववर्ती कविता से भिन्नता रखती है।

सन् ६० के पश्चात् हिन्दी कविता में विभिन्न आन्दोलनों की बाढ़ आई। इन सभी आन्दोलनों के मूल में अस्वीकार तथा विद्रोह है। अतः इनकी मूल चेतना भी एक ही ओर संकेत करती है। साठोत्तरी कवियों ने अपनी कविताओं के मूल्यांकन के लिए नये काव्य प्रतिमानों की स्थापना पर जोर दिया है। सभी साठोत्तरी कवि वस्तु और शिल्प के समन्वय के हामी हैं। कुल मिलाकर साठोत्तरी कविता अपने परिवेश की उपज है उसकी जड़ें जीवन में बहुत गहरे तक पैठी हुई हैं। यह कविता वस्तु और शिल्प के स्तर पर नवीनता का दावा प्रस्तुत करती है।

१. आवेग–८, १९७२, —ज्यापाल सार्त्र पृ० ११० से उद्धृत।
२. "वस्तु तत्व और रूपतत्व कुछ इतना अन्तरावलम्बित है कि एक विषय के लिये एक विशिष्ट रूप ही उपयुक्त होता है।"
—आधुनिक हिन्दी कतविा में शिल्प —कैलाश बाजपेयी पृ० १९।

तृतीय अध्याय

साठोत्तरी कविता की वस्तु चेतना

कविता की वस्तु के अन्तर्गत एक ओर वे अनुभव आते हैं जिन्हें कवि जीवन के अनेक सन्दर्भों में हासिल करता है दूसरी ओर उन अनुभवों से अनुस्यूत जीवन दृष्टि भी वस्तु का एक महत्वपूर्ण अङ्ग होती है। साठोत्तरी कविता की वस्तु पिछली कविता की वस्तु से बहुत कुछ बदली हुई है। कविता के लिए बहुत से वर्जित क्षेत्र और विषय इसमें पहली बार कविता की वस्तु बन सके हैं। साठोत्तरी कविता की वस्तु का अध्ययन करते समय इसमें अभिव्यक्त जीवन मूल्यों के बदलते सन्दर्भ, यथार्थबोध, राजनीतिक चेतना, सौन्दर्यबोध आदि का अध्ययन आवश्यक और समीचीन है।

जीवन मूल्यों के बदलते सन्दर्भ—

यद्यपि दर्शन, धर्म, नीति, इतिहास, संस्कृति, कला, समाजशास्त्र आदि सभी ज्ञानशाखाओं के अपने निजी मूल्य हैं लेकिन ये समग्र जीवन के व्यापक मूल्यों से अन्ततः भिन्न नहीं हैं।[1] समाज-शास्त्रियों के अनुसार मूल्य एक सामाजिक तथ्य है यह व्यक्ति और समाज के विचार, अनुभव या क्रिया से सीधा जुड़ा हुआ है। "जीवन मूल्य जीवन की वे मान्यताएँ हैं जिनके लिये व्यक्ति अथवा समाज हर प्रकार के मूल्य चुकाने (जिसमें कष्ट सहना और जान की बाजी लगाना सम्मिलित है) के लिये तत्पर रहता है। जिस जीवन-मूल्य के लिये जितना अधिक त्याग किया जाता है, जितने अधिक कष्ट उठाये जाते हैं वह उतना ही श्रेष्ठ और मूल्यवान होता है।"[2] जीवन-मूल्यों का बोध सर्जक को तत्कालीन जीवन-सन्दर्भों से प्राप्त होता है।[3] जीवन-मूल्यों की समग्रता

१. 'जयशंकरप्रसाद वस्तु और कला' -डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, पृ० ४२३।

२. 'बदलते जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में हिन्दी उपन्यास का विशेष अध्ययन' —डॉ० वेदप्रकाश शर्मा, टंकित प्रति, पृ० ३७।

३. 'आज का हिन्दी साहित्य संवेदना और दृष्टि' —डॉ० रामदरस मिश्र, पृ० २३।

विचारधारा कही जाती है और इसका कविता की वस्तु से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

मूल्यों को व्यक्ति और समाज के आधार पर व्यक्तिगत और सामाजिक इन दो वर्गों में बाँटा जाता है। कुछ विचारकों का विचार है कि मूल्य निर्णय हमेशा सामाजिक होता है व्यक्तिगत नहीं,[1] लेकिन यह धारणा प्रत्येक दशा में सच नहीं है। समाज में व्यक्ति की भी अपनी एक निजी सत्ता है अतः कुछ मूल्य समाज के हस्तक्षेप से परे होते हैं। आर० टी० हेरिश जैसे अनेक विचारकों ने मूल्य निर्णयों की वैयक्तिकता का समर्थन किया है अतः यह अस्वाभाविक नहीं है कि साठोत्तरी कविता की वस्तु का अध्ययन करते समय सामाजिक मूल्यों के साथ व्यक्तिगत मूल्यों पर भी दृष्टि डाली जाय।

वैयक्तिक जीवन-मूल्य—प्रेम-सेक्स-व्यक्ति स्वातन्त्र्य—

साठोत्तरी कविता में व्यक्तिवादी स्वर बहुत मद्धिम है इसलिए वैयक्तिक मूल्यों का समर्थन उसमें बहुत कम है। प्रेम, सैक्स और व्यक्ति स्वातन्त्र्य को लेकर कुछ बातें कही गई हैं। प्रेम की पवित्रता और अतीन्द्रियता पर नई कविता ने ही प्रश्न चिह्न लगा दिया था लेकिन प्रेम को लेकर एक धुँधलापन उसमें बना हुआ था। आज प्रेम में विश्वास की गहरी नीवें हिल चुकी हैं उसके आकाश-तारे टूटकर धरती पर बिखर गये हैं आत्मोत्सर्ग की भावना आत्मरक्षा की स्वार्थ भरी कीच में समा गई है—

> जड़ से—
> हिल गई हैं,
> गहरी नीवें विश्वास की,
>
> एक दूसरे के लिए
> आन्तरिक प्रगाढ़ सम्मान का
> जो अकलुष मन्दिर था
> वह कब का धँस गया है—
> क्षुद्र आत्मरक्षा की
> स्वार्थ भरी कीच में।[2]

१. 'जलते-उबलते प्रश्न —डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० २४।
२. 'युग्म' विश्वास की नीवें —जगदीश गुप्त, पृ० २१२।

साठोत्तरी कवि ने प्रेम की परम्परागत अवधारणा को बहुत बड़ी चुनौती दी है तथा कथित पवित्र और अशरीरी प्रेम के लिए आज कोई अवकाश नहीं है। प्यार का अर्थ आज भोग या सहवास है।[1] प्रेम अब कोई सौभाग्य की चीज या वरदान नहीं है अपितु बैठे-ठाले का शगल है। बहुत हुआ तो यह खालीपन को पूरने का माध्यम बन जाता है।[2] युवा कवि का विचार है कि प्यार से बड़ा झूठ अब तक बोला ही नहीं गया।[3] इसका अस्तित्व बर्फ के चाकू से अधिक नहीं है—

बस इतना याद है बर्फ के चाकू की तरह प्यार
एक बहुत भद्दा मजाक था
जो भीतर घाव कर
भीतर पिघल गया[4]

---

१. (क) 'प्यार' शब्द घिसते-घिसते
चपटा हो गया है
अब
हमारी समझ में 'सहवास' आता है।
—क० ख० ग० ६, —ममता अग्रवाल।

(ख) समवयस्का की छाती का उभार और मेरी
नयी-नयी मूछों का उगना
मीता के साथ मेरे खेलने का अर्थ बदल रहा है
वह जानती है या नहीं मैं उसे नंगा देखना चाहता हूँ।
—नाटक जारी है - नगर का मौसम —लीलाधर जगूड़ी, पृ० ७४।

२. जब-जब रिक्त होता हूँ
प्यार करता हूँ
यही एक शर्त है
जिन्दा रह जाने की
—संक्रान्त, प्यार करता हूँ —कैलाश वाजपेयी, पृ० १६।

३. क्योंकि प्यार से बड़ा झूठ
अब तक बोला ही नहीं गया
आँसू से ज्यादा नाटक
खेला ही नहीं गया
—संक्रान्त, खण्डित सत्यों का वक्तव्य —कैलाश वाजपेयी, पृ० २१।

४. वही, परास्त बुद्धिजीवी का वक्तव्य —कैलाश वाजपेयी, पृ० २।

साठोत्तरी कविता में जहाँ कहीं प्यार शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ अधिकतर संभोग अथवा सहवास के अर्थ में। प्यार को नकारकर उसने यौन तृप्ति या सहवास को एक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। प्रश्न यह उठता है कि क्या इस प्रकार की कोशिश 'जनुइन' या 'प्रासंगिक' है? "यौन भावना अथवा कामवृत्ति का मानव-जीवन में विशिष्ट स्थान है किन्तु उसे ही मानव जीवन की मूल परिचालिका शक्ति स्वीकार करना सर्वथा एकांगी दृष्टिकोण है जो सत्य के अनेक महत्वपूर्ण पहलुओं का अवमूल्यन करता है।"[१] यह अच्छा है कि इस प्रकार की कविताएँ संख्या में कम हैं और प्रायः अकविता सम्प्रदाय के कवियों द्वारा ही लिखी गई हैं, किसी प्रबुद्ध समीक्षक ने इस प्रवृत्ति का समर्थन भी नहीं किया है। डॉ० रामदरश मिश्र ने इस प्रकार की रचनाओं की आलोचना करते हुए देह-भोग को आवश्यकता से अधिक उभारने के प्रयासों की कड़ी आलोचना की है।[२] युवा कवियों ने अनावश्यक 'बोल्डनेस' दिखाते हुए अनेक स्थलों पर सम्भोग, हस्तमैथुन, वीर्यपात, स्वप्नदोष आदि के खुले वर्णन प्रस्तुत किए हैं। श्रीराम शुक्ल की निम्नलिखित कविता के सन्दर्भ में रामदेव आचार्य की यह टिप्पणी बिलकुल जायज है कि श्री शुक्ल शायद कविताएँ इसलिए लिखते हैं कि वाल्मीक से लेकर अज्ञेय तक तथा चौसर से लेकर टी० एस० इलियट तक की काव्य परम्परा कलंकित हो जाय।[३]

मेरी नींद खुल गई
जांघों के बीच ए अन्धेरा हाँफ रहा था
और मेरी अंगुलियाँ माखन से भरी थीं[४]

---

१. राष्ट्र भारती, मार्च १९६७, लेख—'मानव जीवन में यौन भावना' —डॉ० रामकुमार शुक्ल, पृ० १५६।

२. "यौन-प्रसंगों में आने वाले देह भोग को जहाँ कहीं भी आवश्यकता से अधिक उभारा गया है वहाँ रचना सौन्दर्य आहत हुआ है, देह भोग का नग्न उथलापन एक भोंड़ी उत्तेजना के साथ रचना के आन्तरिक आलोक पर पसर गया है।"
—अधुनातम परिवेश और सृजन की समस्याएं —सं० नवलकिशोर आदि लेख—यौन प्रसंग और साहित्य सृजन, —डॉ० रामदरश मिश्र पृ० ५०।

३. वातायन, नवम्बर १९६६, पृ० ४१।

४. वही, पृ० ४१ से उद्धृत।

कुछ साठोत्तरी कवियों का सैक्स के सामान्य उपभोग पर सन्तुष्टि का अभाव नहीं है वे कुछ थ्रिल और अतिरिक्त उत्तेजना चाहते हैं। महिला कवियों ने भी इस प्रकार की अनुभूति को व्यक्त करने में हिचक नहीं दिखाई है।[1] लेकिन इतना निश्चित है कि महिला उपन्यासकारों में सैक्स को लेकर जितना खुलापन और जितनी उत्तेजना है उतनी इन कवियित्रियों में नहीं।

अजनबीपन, अकेलापन और मृत्युबोध की अनुभूतियाँ—

हालांकि अस्तित्ववाद का प्रभाव नई कविता का अन्त होते-होते चुक गया था फिर भी साठोत्तरी कविता में व्यक्ति स्वातन्त्र्य, अजनबीपन, अकेलापन, मृत्युबोध आदि अस्तित्ववादी स्वर सुनने को मिल जाते हैं। इनमें केवल व्यक्ति स्वातन्त्र्य को ही जीवन मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। एक युवा कवि भीड़ में अपने अस्तित्व को गुम न होने देने के लिए सचेष्ट है, उसमें अपने अस्तित्व की अलग पहचान बनाने की छटपटाहट सक्रिय है—

> मैं आदमी बनकर जीना चाहता हूँ
> न कि एक क्रम-संख्या
> और जो कुछ भी चाहता हूँ कल नहीं
> आज पाना चाहता हूँ[2]

जहाँ तक अजनबीपन अकेलापन और मृत्युबोध की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, ऐसा लगता है ये अस्तित्ववादी प्रभाव न होकर परिवेश की भयावहता और कठिनता की प्रतिक्रियाएँ हैं। यह जरूर है कि इनके पीछे निराशा और विवशता की मिली-जुली जीवन दृष्टि विद्यमान है। टूटा हुआ कवि न तो अपने प्रतिबिम्ब को पहचान पा

१. सड़क से कोई भारी जुलूस नारे लगाता निकले
गोली चले, अश्रु गैस छोड़ी जाए
क्योंकि एकान्त में प्यार मुझे, कुछ
गलत लगने लगता है।
—विचार कविता की भूमिका, एक अन्तरंग प्रेमकथा —अचला शर्मा, पृ० २२२।

२. निषेध, जनतन्त्र और मैं —कुमार विकल, पृ० १६५।

रहा है[1] और न परिचयों और सम्बन्धों की भीड़ में वह अकेलेपन के बोध से मुक्त हो पा रहा है।[2] जीवन के कितने ही पड़ाव तय कर लेने के बाद सबके लिए अजनबी बने रहने की अनुभूति वाकई बड़ी तल्ख है।[3] चारों ओर प्रगति की हलचल है योजनाओं और भाषणों का शोरगुल लेकिन इनकी वास्तविकता को पहचानने वाले को अकेलेपन के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं होता—

> और
> अक्सर ऐसा होता है
> कि भाषणों से भरी सभाओं
> और प्रदर्शनों की भारी भीड़ में
> मैं अकेला होकर
> साथ खोजने लगता हूँ[4]

१ हर तरह से टूट चुके हैं,
अपना ही प्रतिबिम्ब
हमें दिखाई नहीं देता
अपनी ही चीज
गैर की मालूम पड़ती है
—गर्म हवाएँ, छीनने आये हैं वे —सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, पृ० २७।

२. इतने परिचय हैं
और इतने सम्बन्ध
इतनी आँखें हैं
और इतना फैलाव
पर बार-बार लगता है
मैं ही रह गया हूँ
सिकुड़ा हुआ दिन।
—विजप, शेष —गंगाप्रसाद विमल, पृ० २७।

३. विचार कविता की भूमिका, जंगल में गुमे आदमी के नाम —रमेश दिविक पृ० १६३।

४. कविताएँ, १९६४, देशप्रेम —दुष्यन्तकुमार, पृ० ६६।

मृत्युबोध के स्वर युवा कविता में क्षीण हैं। मृत्यु का आतंक प्रायः व्यवस्था के आतंक और क्रूरता की ओर इंगित करता है।[1] ईमानदारी, परोपकार, सत्य और मित्रता आदि की गणना व्यक्तिगत मूल्यों के अन्तर्गत होती है। साठोत्तरी कवि ने इनके खण्डित हो जाने की स्थितियों का वर्णन किया है। युवा कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि आजके परिवेश में ईमानदारी दुःख का कारण है और झूंठ बोलना एक अनिवार्यता।[2] कल तक अप्रमाणित कहे जाने वाले दुर्गुण आज के सर्वमान्य मूल्य बन चुके हैं। सत्य का आज के युग में उपहास किया जाता है। क्यों न हो "जिस समाज में सत को दण्डित और असत को पुरष्कृत किया जाता हो वहाँ ये सब आचार के मूल्य अगर

१. (क) हम सब अपनी मृत्यु से बहुत पहले
मर गए हैं
और एक सकरे रेगिस्तान में
हमें खड़े गाड़ दिया गया है
—संक्रान्त, पूर्व मृत्यु —कैलाश वाजपेयी, पृ० ७८।

(ख) दिन की हजारों घटनाएँ
रात्रि की तिलस्मी विषमताएँ
सन्देह असंख्य, निरन्तर
मृत्यु बनकर खड़ा है
यह शहर
हमारे ऊपर

२. (क) ईमानदारी
दुःख का कारण है
मुझे विश्वास हो गया है,
बेईमानी के प्रति
—जूझते हुए, धारा प्रवाह —सुरेन्द्र तिवारी, पृ० ४२।

(ख) अगर मैं झूंठ न बोलूं
तो सच मानिए
मैं बेशी तराजु पर
घुन लगे अनाज का बोझ होता
—विचार, कविता की भूमिका, रोटी जो मेरी जुबान पर है,
—गोविन्द उपाध्याय, पृ० १२०।

उलट जायें तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।"[1] सत्य का स्थान झूंठ ने, सरलता का पाखण्ड ने, कर्त्तव्य का चाटुकारिता ने, न्याय का पक्षपात ने बड़ी सरलता से ले लिया है और कहने की आवश्यकता नहीं है कि यही आज के सर्वमान्य मूल्य हैं—

> **अतिरिक्त गुण और बेईमानी**
> **प्रामाणित हो चुकी हैं।**
> **दोहरा व्यक्तित्व, पाखण्ड, चाटुकारिता**
> **प्रचार पक्षपात और उलझन**
> **जहाँ के सर्वमान्य मूल्य हैं**[2]

साठोत्तरी कवि ने वैयक्तिक जीवन-मूल्यों पर जब भी विचार किया है उन पर कड़ी चोट की है। उसका विचार है कि मौजूदा परिवेश में घिसे-पिटे और रूढ़िग्रस्त मूल्यों का कोई औचित्य नहीं है। उसके जीवन के चारों ओर जिस मौसम के बादल घहरा रहे हैं उनसे उपलवृष्टि की आशा ही की जा सकती है।

परम्परागत सामाजिक मूल्यों का विघटन—

युवा कविता जिस परिवेश में पैदा हुई वह एक तरह से जीवन-मूल्यों की अराजकता का युग है "इसकी दिशा विघटन की ओर दशा आस्थाहीन भाव शून्य गतिरोध की है, यह सांस्कृतिक मूल्यों के संकट का समय है........ यह युग समस्याओं के बोध का है समाधान का नहीं।"[3] संयुक्त परिवार का विघटन, बढ़ती हुई आर्थिक असमानता, राजनीतिक अस्थिरता और सांस्कृतिक अवमूल्यन के फलस्वरूप इस युग में पहले से स्वीकृत जीवन-मूल्यों के प्रति प्रारम्भ में सन्देह व्यक्त किया गया तदुपरान्त उन्हें अनुपयोगी पाकर बिलकुल नकार दिया गया। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक प्रगति तथा मार्क्सवाद सरीखे भौतिक विचार धाराओं ने भी मूल्यों की परम्परा को अस्वीकार किया और मानव को भौतिक कार्य कारण शृङ्खला[4] की कड़ी के रूप में माना। घर, गाँव, नगर और देश के स्तर पर सामाजिक सम्बन्धों में आये परिवर्तनों ने भी

१. आधुनिक भावबोध की संज्ञा —अमृतराय, पृ ६७।
२. 'कल्पना' वर्ष १३, अंक ६, १९६२ तरसे हुए देश में, —कैलाश बाजपेयी, पृ० ४३।
३. वातायन नवम्बर १९६६, —डॉ० छगन मेहता, पृ० १३।
४. साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य —डॉ० रघुवंश, पृ० ९।

पुराने मूल्यों का स्थानान्तरण करके उसके स्थान पर नये जीवन-मूल्यों को स्थापित किया है। सामाजिक मूल्यों के इस व्यापक परिवर्तन को साठोत्तरी कवि ने बड़ी सतर्कता के साथ देखा है।

सतीत्व, कौमार्य, शोषण, मातृत्व, श्रद्धा आदि का अस्वीकार—

सामाजिक मूल्यों के विघटन और नई मूल्य मर्यादाओं के उदय को रेखांकित करने के दौरान युवा कवि ने कभी समाज की थोथी नैतिकता[1] का जिक्र किया है तो कभी पारिवारिक जीवन के परिवर्तनों को लिपिबद्ध किया है। 'पुराने आदर्शों, मूल्यों और आस्थाओं का विघटन यों तो छायावादोत्तर काल के आरम्भ में ही शुरू हो गया था, पर सन् १९६० के बाद तो यह अपनी चरम सीमा पर जा पहुँचा।"[2] युवा कवि पाता है मूल्यों में हुई उलट-फेर के फलस्वरूप एक वेदपाठी और आर्मी कण्ट्रेक्टर में कुछ फर्क नहीं रह गया है।[3] सभ्यता और तथाकथित आधुनिकता ने मनुष्य को इतना बदल दिया है कि अब उसे पहचानना बड़ा कठिन है।[4] इसी प्रकार पारिवारिक मूल्यों में भी

१. ओढ़ी हुई, झूठी नैतिकता
भारी लबादा है
उसी के बोझ से
आदमी की सीधी चाल कुण्ठित हो जाती है,
कलुषित हो जाता है सहज रूप।
—युग्म, मैं कहीं असामाजिक बना रहना चाहता हूँ —जगदीश गुप्त, पृ० २८८।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, —सं० डॉ० नगेन्द्र, डॉ० बच्चनसिंह, पृ० ७३२।

३. क्या फर्क है वेद-पाठी और आर्मी कण्ट्रेक्टर में ?
दोनों की बेटियाँ 'ए' फिल्म देखती थीं
और दोनों भाग गई हैं।
—एक उठा हुआ हाथ, परिदृश्य १९६७, —भारतभूषण अग्रवाल, पृ० ४६।

४. और चाहे कुछ भी नहीं दिया सभ्यता ने
कम से कम यह तो किया है सभी को
बराबर अमानत बना दिया।
—संक्रान्त, पिशाच संस्कृति, —कैलाश वाजपेयी, पृ० ६५।

बहुत परिवर्तन हुआ है। न पत्नी के लिए पति परमेश्वर रहा और न पति के लिए पत्नी ही अर्द्धाङ्गिनी के रूप में स्वीकृत रही। यौन विकृति का विस्फोट हो रहा है और उसके चलते पुख्ता रिश्ते बुरी तरह हिल गए हैं—

> एक जिम्मेदारी की करवट बदलकर
> चिपक जाती है पत्नी
> और उसे प्यार करने के नाटक में
> मैं अज्ञात प्रेमिकाओं के गले घोंट देता हूँ
> हररात।[1]

आज का कवि विवाहित जीवन को भोंड़ा, अनैतिक और फूहड़ मानकर सतीत्व, कौमार्य और पातिव्रत आदि मूल्यों को नकार रहा है। इस प्रकार की प्रवृत्ति अकविता आन्दोलन से जुड़े हुए कवियों में अधिक मिलती है। जगदीश चतुर्वेदी जैसे कवियों में परम्परा और शास्त्र के प्रति सम्पूर्ण अस्वीकृत का भाव मिलता है।[2] बहुत से चिन्तकों ने सतीत्व कौमार्य आदि को नकारने के साहस को चिन्ता की दृष्टि से देखा है। वास्तव में सतीत्व, कौमार्य, मातृत्व, पितृत्व आदि मूल्यों के संकट में पड़ जाने से लाभ की अपेक्षा हानियाँ अधिक हैं। डॉ० छगन मेहता के शब्दों में "परिवार और दाम्पत्य जीवन के विघटन के कारण ममता विहीन परिस्थितियों में पलने वाले बालक-बालिकाओं में समाज विरोधी संस्कारों के बीज पनप रहे हैं।"[3]

साठोत्तरी कविता में आर्थिक, सामाजिक शोषण के प्रति तीखी चेतना है। वह पूँजीपतियों, नेताओं, मठाधीशों द्वारा किये गए शोषण को नकार कर आर्थिक समानता, बन्धुत्व और सहयोग आदि मूल्यों पर बल देता है। शोषण के नये तरीकों और साजिशों से युवा कवि अनभिज्ञ नहीं है।[4] अब वह

---

१. 'विजप' एक प्रतिबद्धता, जगदीश चतुर्वेदी, पृ० ७३।

२. मुझे तुम्हारे ऋषियों द्वारा पारिपेषित नाम
   शास्त्र की ठण्डी नापाक हरकतों में नहीं उलझना
   —इतिहास हन्ता, अपने देश के लिए, पृ० ५६।

३. वातायन १९६६, सृजन मूल्यांकन अंक, पृ० १२।

४. क्षत-विक्षत कोखों से जन्मी हुई पीढ़ियाँ
   जन्म से पूर्व जान जाती हैं कि वीणा
   वादक नहीं, सिर्फ शिकारी बजाते हैं।
   —निषेध, वंश-बेल, —रमेश गौड़, पृ० १८५।

किसी प्रकार के सुधार या संस्कार में विश्वास न करके आमूलचूल परिवर्तन का हामी है। यही कारण है कि वह क्रान्ति का आह्वान करता है। उसे विश्वास है कि अब व्यवस्था-परिवर्तन का सही समय आ चुका है—

वैसे भी अब वक्त आ गया है कि पूरी
व्यवस्था के फटे आये नेकर को
कोई अश्वस्त कैंची
नयी काट के कपड़े में
परिवर्तित कर दें,[1]

आध्यात्मिकता युवा कविता में नहीं के बराबर है। रघुवीर सहाय, राजीव सक्सैना आदि जैसे कवियों ने प्रभु, पिता, आत्मा जैसे शब्दों का प्रयोग किया है लेकिन वे पूजा, अर्चना, श्रद्धा के भाव से नहीं बल्कि अपनी विचार-धारा और परिवेश के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए है। अधिकतर युवा कवियों ने ईश्वर की सत्ता में सन्देह किया है। डॉ० मन्जू सिन्हा का विचार है कि 'ईश्वर के प्रति यह अविश्वास सन् ६० के बाद जिस तरह बढ़ा है उतना पहिले नहीं था। साठ के पहले के कवि विद्रोही भले ही रहे हों, ईश्वर के अस्तित्व को उनका बुद्धिवादी दृष्टिकोण चाहे स्वीकार न करता हो लेकिन ईश्वर के अस्तित्व पर उन्होंने प्रश्नचिह्न नहीं लगाया था।"[2] यदि कैलाश वाजपेयी का विचार है कि "ईश्वर सा खोखला शब्द। दोबारा उगला नहीं गया।"[3] तो दूसरी ओर जगदीश चतुर्वेदी भी ईश्वर पर विश्वास करने के लिए तैयार नहीं हैं—

मुझे अब नहीं करना है विश्वास बदलते आकाश पर
रिरियाते ईश्वर पर[4]

अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्वबन्धुत्व—

मार्क्सवाद तथा अन्य आधुनिक विचारधाराओं के परिणामस्वरूप साठोत्तरी कविता में राष्ट्रीयता या देश-भक्ति जैसे संकीर्ण मूल्यों के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्वबन्धुत्व के मूल्य विकसित हुए हैं। बहुत से युवा

---

१. विचार कविता की भूमिका, तटस्थ, –पवनकुमार, पृ० १६८।
२. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी और गुजराती की नई कविता, पृ० ११३।
३. संक्रान्त– खण्डित सत्यों का वक्तव्य, पृ० २१।
४. निषेध– मिथकृति, पृ० ३२।

कवियों ने अपने देश के वर्तमान स्वरूप को देखते हुए उसके प्रति घृणा प्रदर्शित की है अर्थात् देश-भक्ति के मूल्य का तिरष्कार किया है। कैलाश वाजपेयी की कविता 'तरसे हुए देश में', इस देश में पानी तक शुद्ध न मिलने, बुद्धजीवियों के अय्याश होने और विदूषकों के हाथ में शासनतन्त्र के होने पर खुद को भारतीय कहने में लज्जा का अनुभव किया गया है।[1] देश-भक्ति के प्रति वीतश्रृद्ध होने का क्रम स्वतन्त्रता के बाद शुरू होता है—

सारे देशी शरीर के भीतर
पता नहीं मुझसे क्या गलती हो गयी है
कि आजादी के बाद
देश भक्ति
मेरे कन्धे से सिर टिकाकर सो गई है[2]

कुछ कवियों ने अपने बेहद आक्रामक लहजे में हिन्दुस्तान को जो इज्जत बक्शी है[3] वह एकांगी और अनास्थावादी जीवनदृष्टि को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। ऐसा नहीं है कि साठोत्तरी कविता में देशानुराग का स्वर बिल्कुल अनुपस्थित ही है। रामदरश मिश्र, विश्वनाथप्रसाद तिवारी, नीलाभ आदि कवियों ने देश की तमाम बदसूरती के बावजूद उसके प्रति अपना लगाव प्रदर्शित किया है। ऐसे स्थलों[4] को समय से पिछड़ा हुआ दृष्टिकोण कहकर

---

१. कल्पना १९६२ वर्ष १३ अंक–६, पृ० ४३।
२. नाटक जारी है, इस व्यवस्था में, —लीलाधर जगूड़ी, पृ० ५५।
हिन्दुस्तान तुम्हारा शरीर सदियों के कोढ़ से बिधा है
३. हट जाओ मेरे सामने से पिचके कपाल
मैं तुम्हें देखकर शर्म से झुक जाता हूँ।
—इतिहास हन्ता, अपने देश के लिए, –जगदीश चतुर्वेदी, पृ० ५५।
४. (क) ये काइयों भरे ताल
ये टूटे हुए कुए
ये ही सब मेरे हैं
लेकिन दूर के सागर पर मैं कब तक भटकता रहता
अपनी फटी-फटी धरती को छोड़कर
कब तक पराये आकाश में टंगा रहता—
विचार कविता की भूमिका, लौट आया हूँ –रामदरश मिश्र, पृ० १५८।

शेषांश अगले पृष्ठ पर

टाला नहीं जा सकता। वास्तव में उग्र वामपंथ की अन्तर्राष्ट्रीयता और प्रतिक्रियावादी व दक्षिणपंथी संकीर्ण राष्ट्रीयता के अतिवादी छोरों से बचकर भारत के बौद्धिक अब राष्ट्रीयता और देश-भक्ति आदि प्रश्नों पर गम्भीरता से सोचने लगे हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि युवा कविता में भारतीय सामाजिक जीवन में हुए मूल्यगत परिवर्तन की अच्छी समझ विद्यमान है। कुल मिलाकर युवा कवि की चारित्रिक मुद्रा परम्परागत मूल्यों के अस्वीकार की है। अनेक घटनाओं, परिस्थितियों और यातनाओं ने उसके पुराने विश्वासों को झकझोर कर रख दिया है।[1] वह पुरानी मान्यताओं के स्थान पर अशोषण, क्रान्ति, नैतिक मूल्यों का अस्वीकार आदि धारणाओं को स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है।

पिछले पृष्ठ का शेषांश —

(ख) मुझे जीने दो
जीने दो
मैं जीना चाहता हूँ
इस भयानक अंधेरे में भी जीना चाहता हूँ
आखिरी यातना तक

—कल्पना ७१, वर्ष २२ अंक-१, जिजीविषा —विश्वनाथप्रसाद तिवारी, पृ० १६।

(ग) कैसे कहूँ मेरा कोई नहीं है देश
कैसे कहूँ मेरी कोई नहीं है भाषा
परिभाषा
परिवेश
अर्थ

—संस्मरणारम्भ, चटकीले बादलों के साथ, —नीलाभ, पृ० ८७।

१. अदालत के झूठे मुकद्दमे
मानवीय मूल्यों के प्रति
मेरी आस्था को कुतर गए हैं—
मेरे विश्वासों में दीमक लग गई है
सुबह होने से पहले—अन्धा युग और उजड़े हुए लोग
—सव्यसाची, पृ० २।

विविध सामाजिक जीवन-मूल्यों की स्थिति —

साठोत्तरी मानव संक्रान्त युग का मानव है। यदि परम्परा, नैतिकता और आदर्शों का रक्त उसके शरीर में है, तो परिवेशगत दबाव की अनुभूतियाँ उसके दिल तथा दिमाग में हैं। आज परिवेश की भयावहता के कारण प्राचीन मान्यताओं, रीति-रिवाजों तथा आदर्शों को भारी धक्का लगा है। कवि ने प्राचीन मूल्यों को अस्वीकार कर दिया है परन्तु नये मूल्य स्थापित करने के नाम पर वह द्वन्द्व का शिकार हो जाता है। हमारी परम्पराएँ, नैतिक मान्यताएँ आज अनेक रूढ़ियों से ग्रस्त हो चुकी हैं परन्तु इससे भी इनकार नहीं किया जा जकता कि उसमें आज भी अनेक जीवन्त तत्व हैं जिनसे पश्चिमी देश भी समय-समय पर प्रभावित होते रहे हैं। हमारी परम्परा ने हमें कुछ जीवन-मूल्यों के साथ सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था दी थी। साठोत्तरी कवियों ने उन जीवन-मूल्यों को तोड़ा है, उनको अस्वीकार किया है। यदि कोई व्यवस्था समय के साथ पंगु हो जाये तो उसे अस्वीकार करना आवश्यक है परन्तु कोई नयी व्यवस्था भी स्वीकार की जानी चाहिए। साठोत्तरी कविता में जीवन-मूल्यों के प्रति विद्रोह तथा अस्वीकार का स्वर मुखर है। नये मूल्य गढ़ने में तथा उसे समाज द्वारा स्वीकृति मिलने में अभी देर ही लगती है। मुक्तिबोध के शब्दों में जो पुराना है, अब वह लौटकर नहीं आ सकता। लेकिन नये ने पुराने का स्थान नहीं लिया। धर्म भावना गई, लेकिन वैज्ञानिक बुद्धि नहीं आई। धर्म ने हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष को अनुशासित किया था। वैज्ञानिक मानवीय दर्शन ने, वैज्ञानिक दृष्टि ने धर्म का स्थान नहीं लिया। इसलिए हम केवल अपनी अन्त: प्रवृत्तियों के यन्त्र से चालित हो उठे। उस व्यापक उच्चतर सर्वतोमुखी मानवीय अनुशासन की हार्दिक सिद्धि के बिना हम 'नया'-'नया' चिल्ला तो उठे, लेकिन वह नया क्या है—हम नहीं जान सके। क्यों? नया जीवन, नये मानमूल्य, नया इनसान परिभाषाहीन और निराकार हो गए। वे दृढ़ और व्यापक मानसिक सत्ता के अनुशासन का रूप धारण न कर सके। वे धारणा न कर सके। वे धर्म और दर्शन का स्थान न ले सके।"[1]

आज का बुद्धिजीवी दोहरी जिन्दगी जी रहा है। एक ओर वह पश्चिमी चिन्तन से प्रभावित है तो दूसरी ओर वह अपने संस्कारों, रूढ़ियों तथा

१. एक साहित्यिक की डायरी, पृ० ७२।

मान्यताओं से जकड़ा हुआ है। जीवन-मूल्यों में इस अस्पष्टता का कारण है कि जिन्दगी के स्तर पर आज आदमी भारी तनाव का अनुभव कर रहा है। मूल्यों में आज बिखराव है। अभी भारतीय समाज को देखना है कि उसकी परिस्थितियाँ तथा विदेशी जीवन पद्धतियाँ उसके जीवन-मूल्यों को गढ़ने में कहाँ तक सहयोग दे पाती है। नया कवि नये जीवन-मूल्यों को प्रतिष्ठित करने में क्रियाशील है।

(ख) साठोत्तरी कविता के राजनीतिक सन्दर्भ—

साठोत्तरी कविता में राजनैतिक सन्दर्भों, प्रश्नों और घटनाओं का अच्छा खासा जुलूस सक्रिय है। साहित्य और राजनीति के आपसी सम्बन्ध पर वर्षों से चले आ रहे विवाद को एक तरह से साठोत्तरी कवियों ने समाप्त कर दिया है। साहित्य को राजनीति से दूर रखने या राजनीति को साहित्य में अस्पृश्य मानने की बात अब नहीं रही। भले ही अज्ञेय जैसे पिछली पीढ़ी के रचनाकार कहते रहे कि "सामाजिक (और विशेषतया साहित्यिक) वायु-मण्डल का सबसे बड़ा दूषण आज राजनीति है।"[1] जगदीश चतुर्वेदी जैसे अकवियों की यह मान्यता भी बेबुनियाद ठहराई गई है कि 'राजनीति एक गौण रूप में साहित्य का अङ्ग हो सकती है, उसे प्रमुखता दी गई तो साहित्य मात्र 'नारा' या 'फैशन' बनकर रह जाएगा।'[2] आज का कवि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गहरी दिलचस्पी रखता है और स्वयं को एक राज-नीतिक व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि डॉ० भारतभूषण अग्रवाल ने आज की युवा कविता को एक राजनैतिक व्यक्ति की कविता कहकर सम्बोधित किया है। युवा कवि ऋतुराज भी किसी अच्छे समकालीन हिन्दी कवि की कविता को अनिवार्य रूप से एक राजनीतिक व्यक्ति की कविता मानने के पक्ष में है।[3] राजनीति को लेकर युवा कवि गुमराह नहीं है। भारतीय सन्दर्भ में राजनैतिक स्थिति वाम और दक्षिण इन दो छोरों में

१. अवन्ती, पृ० ४६।
२. राष्ट्रवाणी विशेषांक —लेखक अपने परिप्रेक्ष्य में, पृ० ७१।
३. "किसी अच्छे समकालीन हिन्दी कवि की कविता पर विचार करने से पूर्व इस बात को ध्यान में रखना होगा कि उसकी कविता अनिवार्य रूप से एक राजनीतिक व्यक्ति की कविता है।"
—आवेग-६, १९७२ 'राजनीतिक बगैर जिम्मेदारी के खिलाफ' पृ० २५।

विभाजित है और एक प्रबुद्ध बुद्धजीवी को इन दोनों में से किसी एक का चुनाव कर लेना है।[1] साठोत्तरी कविताओं को देखने से लगता है कि युवा कवि ने वामपन्थ की दिशा का चुनाव किया है। वह नेहरू युग की उदार आशावादी मध्यम मार्गीय राजनीति को त्यागकर बामपंथ की राजनीति को अपना समर्थन देता है। युवा कवि मलयज ने एक स्थान पर लिखा है कि नेहरू युग की राजनीति मुख्यत: राजनेताओं की राजनीति थी जब कि आज की राजनीति आम आदमी की राजनीति है। "छात्र असन्तोष, घिराव और दलबदल में आम आदमी की ही नस बजती है।"[2]

(१) युवा कवि की राजनीतिक प्रतिबद्धता—

साहित्यकार की प्रतिबद्धता का प्रश्न बहुत पुराना है। कभी कहा गया कि कवि अपनी रचना के प्रति प्रतिश्रुति होता है और कभी उसकी प्रतिश्रुति जिन्दगी के प्रति बताई गई। युवा कवि प्रतिबद्धता के प्रश्न पर किसी संशय या भ्रम में नहीं है जिस प्रकार हाथी के पैर में सबके पैर आ जाते हैं उसी प्रकार राजनीतिक प्रतिबद्धता में आम आदमी की पूरी जिन्दगी आ जाती है, ऐसी उसकी मान्यता है। 'जीवन कोई सिद्धान्त, कोई पार्टी नहीं है, जिसके प्रति प्रतिबद्ध हुआ जाए। इसी तरह अपने आपके प्रति प्रतिबद्धता भी थोथी है। क्योंकि 'मैं' और अपनाने का अस्तित्व सामाजिक, राजनैतिक जीवन में ही है, उससे बाहर नहीं।"[3]

युवा कवि अपनी राजनीतिक जागरूकता का परिचय देने के लिए कभी वयस्क प्रजातन्त्र की उपलब्धियों और सीमाओं का मूल्यांकन करके उसकी सार्थकता पर प्रश्न चिह्न लगाता है तो कभी चुनाव और कुर्सी लिप्सा के तत्वावधान में होने वाले भ्रष्टाचार की चर्चा करता है। जनतन्त्र में जनता की सहायता और मुट्ठी भर लोगों के अमन-चैन पर युवा कवि की सीधी नजर है। राष्ट्रीय सन्दर्भों की समीक्षा के साथ-साथ युवा कवि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मामलों पर भी अपनी बेलाग टिप्पणी देने में चूक नहीं करता है।

---

१. विचार कविता की भूमिका, —हरदयाल, पृ० ३१।
२. पहचान-५, पिछले दशक के युवा लेखन पर कुछ मूलभूत बातें, पृ० ६२।
३. राष्ट्रवाणी विशेषांक, सातवें दशक की कविता के कुछ प्रश्न, सन्दर्भ —मालती शर्मा, पृ० ४०।

(२) तद्युगीन जनतांत्रिक व्यवस्था की सार्थकता का सवाल—

युवा कवि में जनतन्त्र को लेकर अब कोई भ्रम शेष नहीं है। जनतन्त्र में अच्छाइयाँ हो सकती हैं लेकिन भारतीय जनतांत्रिक व्यवस्था ने आम आदमी का जीवन मुश्किल ही किया है, ऐसा युवा कवि मानता है। दो दशकों से अधिक की अवधि सब्र या सन्तोष के लिए काफी होती है। युवा कवि ने बीस वर्षों की आजादी का मूल्यांकन करने के बाद यह पाया है कि या तो गत बीस वर्ष उपदेश सुनने में बीत गए या धोखा खाने में।[1] स्वतन्त्रता के बाद के दो दशकों में जनतन्त्र का दुरुपयोग भी हुआ है। सत्ता गलत हाथों में जाकर गलत नतीजों तक पहुँच गई है। जनसाधारण के दुःख-दर्द से जनतन्त्र के पहरुओं का कोई वास्ता नहीं है—

> **समूचा मौसम हो रहा है**
> **आज का हाहाकार**
> **और प्रजातन्त्र**
> **किसी कस्बाई हवलदार की तरह**
> **सिर्फ चाय पर चुप है**[2]

कुछ युवा कवियों का विचार है कि प्रजातांत्रिक व्यवस्था अपने आपमें उतनी बुरी नहीं है। प्रजातन्त्र के विरोधी अवसरवादी सुविधाजीवी शक्तियाँ प्रजातन्त्र को एक निरर्थक चीज बनाकर रख देती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रजातन्त्र की अच्छाइयाँ आम आदमी की मुश्किलों में

१. (क) बीस वर्ष
खो गये भरमे उपदेश में
एक पूरी पीढ़ी जन्मी पली पुसी क्लेश में
बेगानी हो गयी अपने ही देश में
—आत्महत्या के विरुद्ध, मेरा प्रतिनिधि, पृ० १८।

(ख) बीस साल
धोखा दिया गया
वही मुझे फिर कहा जायेगा विश्वास करने को
—आत्महत्या के विरुद्ध, एक अधेड़ भारतीय आत्मा, —रघुवीरसहाय, पृ० ८६।

२. कल्पना, दिसम्बर १९७३, —राजकुमार कुंभज, पृ० ३४।

बदल जाती हैं।[1] मौजूदा व्यवस्था में स्वतन्त्रता संग्राम के नायकों को नगर से निकाल दिया गया है और षड़यन्त्री खलनायकों का रथ जनतन्त्र को रौंदकर शान के साथ चला जा रहा है।[2] ऐसी स्थिति में यदि प्रजातन्त्र एक आतंक या 'टेर' के रूप में उपस्थित होता है तो कोई आश्चर्य नहीं है। भारतभूषण अग्रवाल की 'अन्वेषण', मुद्राराक्षस की 'शिखण्डी', श्रीराम वर्मा की 'भेदते हुए', रमेश गौड़ की 'अंधेरे से अंधेरे तक', हेतु भारद्वाज की 'संवाद : एक तरफा', धूमिल की 'पटकथा' आदि कविताओं में प्रजातन्त्र को भयावह और सर्वग्रासी रूप में प्रस्तुत किया जाना इसी बोध का परिणाम है। कुछ कविताओं में आम आदमी की असहायता, असुरक्षा और निराशा बहुत साफ है। कुमार विकल ने प्रजातन्त्र को 'बनतन्त्र'[3] की संज्ञा देते हुए संकेत किया है कि इसमें वही जीवित रह सकता है कि जो ताकतवर है। रमेश गौड़ की निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त निराशा भी जनतन्त्र की निरर्थकता का प्रतिपादन करती है—

> मैं चाहे किसी भी पक्ष में रहूँ
> मुझे हारना है। क्योंकि मैं
> एक ऐसी व्यवस्था में रहने को अभिशप्त हूँ
> जिसमें वादी या प्रतिवादी नहीं,
> सिर्फ वकील जीतते हैं।[4]

१ सरकार आटा डालती है
प्रजातन्त्र का
और चींटियाँ बढ़ रही हैं
कष्ट-विष धारण किए हुए
—विजप, —गंगाप्रसाद विमल, पृ० ३५।

२. कोड़ों की मार से जय-जयकार करता हुआ जनपद
जनतन्त्र को रौंदकर निकलता हुआ विजयी षड़यन्त्र का रजत-रथ
—निषेध, 'नगर से निकाल दिये गए हैं नायक' —परेश, पृ० १३४।

३. राजपथ की बनतन्त्री व्यवस्था में
मैं अकेला और अरक्षित हूँ
—निषेध, वापसी, पृ० १६८।

४. वही, अँधेरे से अँधेरे तक, पृ० १७६।

(१) चुनाव कुर्सी और शोषण की राजनीति का विरोध—

युवा कवि प्रजातन्त्र के तत्वावधान में सम्पन्न होने वाले चुनावों को बहुत अधिक महत्व नहीं देता। उसका विचार है सही राजनीतिक बोध न होने से जनता हर पाँचवे साल वोट की पर्ची देकर बहका ली जाती है।[1] आश्वासनों और सब्जबागों में फँसकर वह अक्सर गलत आदमी को पाँच वर्ष के लिए अपना भाग्य विधायक चुन लेते हैं। तथाकथित जन-समर्थन से चुने गये ये तथाकथित जनसेवक कुर्सी पाते ही अपना घर भरने में लग जाते हैं। जनता के सुख-दुःख से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं होता। कैसी भी विषम परिस्थिति हो ये जन सेवक लाभ उठाने में चूक नहीं करते—

बाढ़ आये
या सूखा पड़े
कुछ लोग हैं जो
दोनों ही स्थितियों में फायदा उठाते हैं,
बाकी लोग नुकसान
सरकार किसी पार्टी की बने
चमचे वही हैं[2]

कुछ जनसेवक केबिनेट में बन्द होकर संविधान विरोधी शक्तियों से जूझने का स्वांग करते हैं जबकि कुछ अधिक समझदार जनसेवकों ने पूँजीपतियों से हाथ मिला लिए हैं और देश-हित तथा जन-हित के नाम पर चाँदी काटने में लगे हुए हैं।[3] स्वार्थ के आगे दल, सिद्धान्त या राष्ट्र ऐसे प्रजातन्त्रीय लोगों के

१. मैं भी कितना भोला हूँ कि हर पाँचवे साल
एक परची देकर बहला लिया जाता हूँ
—निवेध, जनतन्त्र और मैं —कुमार विकल, पृ० १६४।

२. जूझते हुए आह्वान, —सुरेन्द्र तिवारी, पृ० ४६।

३. देश के हित में और / आम आदमी के हित में
गले मिल गए हैं समाजपाल-कान्तिलाल
और लम्बी और हिलती हुई दुमों को
और तेजी से हिलाकर वे
योजनायें (नौजवानों की मुनासिब कार्यवाही को रोकने और ध्वस्त करने वाली) / लागू करने में लगे हैं
—विचार कविता की भूमिका, समारोह, —नरेन्द्रमोहन, पृ० १०१।

सामने कुछ भी मायने नहीं रखते। राजनेता जब क्षुद्र राजनीति की कीचड़ में फँसकर केवल अपने कुर्सियाने की ही सोचता है तब उसकी बचकानी हरकतें कवि से छिपी नहीं रहतीं। देश की इस राजनीतिक विडम्बना को कवि ने बड़े पैने ढङ्ग से उभारा है—

> किसी के हाथों फटे हुए नक्शे के टुकड़े
> जमीन में बिखर गए..................
> \+ + +
> पर देखता हूँ– एक नेताजी निश्चिन्त हैं
> नक्शा फट गया तो क्या हुआ,
> उनका चुनाव क्षेत्र तो सुरक्षित है।
> बच्चों को पटाखे दे दिए गये है
> और वे धड़ाधड़ छोड़ रहे हैं
> अपनी-अपनी भाषा में गुर्राते हुए
> और नेताजी तालियाँ पीट रहे हैं[1]

देश के कर्णधारों की इन्हीं कारगुजारियों के कारण राजनीतिक पटल पर कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हो पाता। बहुत होता है तो राजनीतिक दल-बदल का तमाशा देखने को मिल जाता है।[2] ऐसी स्थिति में यदि प्रत्येक राजनीतिक दल और व्यवस्था के प्रति अनास्था[3] का भाव व्यक्त हो तो यह आश्चर्यजनक नहीं है। लेकिन यह अनास्था साठोत्तरी कविता का केन्द्रीय स्वर नहीं है। प्राय: कवियों ने साम्यवादी व्यवस्था के प्रति आशा भरी दृष्टि से

---

१. प्रकर, अप्रेल १९७३, नक्शे के टुकड़े, —प्रेमशंकर, पृ० २७ से उद्धृत।

२. लाल टोपी पहनकर गया हुआ विधायक
 सफेद टोपी पहनकर लौट आता है : और सफेद वाला काली।
 इसके अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं बदलता।
 —निषेध, कहीं कुछ नहीं होता, —रमेश गौड़, पृ० १८५-८६।

३. जो भी आयेगा
 समाजवाद और समानता के नाम की
 ईंटें पकायेगा
 मनमाने बेडौल साँचे में
 —गर्म हवाएँ, स्थिति यही है, —सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, पृ० २०।

देखा है। जब व्यवस्था की कारगुजारियाँ असह्य हो उठती हैं और जीना आसान नहीं रह जाता तब व्यवस्था विरोध के स्वर भी सुनाई देते हैं। लेकिन ये स्वर अलग-अलग और असम्बद्ध होने के कारण व्यवस्था का कुछ बिगाड़ नहीं पाते। इसके अतिरिक्त विद्रोह के प्रति व्यवस्था की उपेक्षा[1] भी उसे कुंठित कर देती है लेकिन विद्रोह का बवंडर दबमर जाता है बिलकुल समाप्त नहीं होता। लीलाधर जगूड़ी ने सही संकेत किया है कि हर दरवाजे का बवंडर पर्दे की तरह पड़ा हुआ है। कवि को विश्वास है कि शीघ्र ही एक लावा कुर्सियों के आसपास फूटेगा और एक बड़ा परिवर्तन सम्भव हो सकेगा—

> सिर्फ एक लावा जो कुर्सियों के आस-पास फूटेगा
> नक्शा बदलने के लिए काफी है[2]

व्यवस्था की विसंगतियों अक्षमताओं और कारगुजारियों की पड़ताल के बाद अधिकतर युवा कवि इस नतीजे पर पहुँच गये हैं कि इसमें आमूलचूल परिवर्तन आवश्यक है।[3] इस व्यवस्था में जीने से कहीं अच्छा आत्मघात कर लेना है। प्रबुद्ध युवा कवि ने तमाम फजीहतों के बावजूद यदि आत्मघात नहीं किया है तो इसलिए कि उसे व्यवस्था परिवर्तन के अनुकूल मौसम का इन्तजार था।[4] एक ओर जहाँ अनेक युवा कवि प्रजातन्त्र से सदैव के लिए

---

१. कोई बवंडर उठता है व्यवस्था के खिलाफ
तब
हर बार
रेशमी मसहरी लगाकर
सो जाते हैं व्यवस्था के तन्तु
—विचार, कविता की भूमिका, कविता में कविता के लिए, —राजकुमार कुंभज, पृ० १३४।

२. नाटक जारी है, इस व्यवस्था में, पृ० ४४।

३. अब इसमें कोई दो राय नहीं हो सकतीं कि यह व्यवस्था
गर्भपात का विषय बन गई है
और इसका स्थिर रूप नहीं दिया जा सकता
—तलघर, —प्रमोद सिन्हा, पृ० ३।

४. निवेदन, मेरी पीढ़ी : एक आत्मस्वीकृति, —रमेश गौड़, पृ० १७६।

छुट्टी पा लेना चाहते हैं वहीं धूमिल जैसा युवा कवि कहता है कि 'मुझे अपनी कविताओं के लिए। दूसरे प्रजातन्त्र की तलाश है।' पता नहीं दूसरे प्रजातन्त्र से धूमिल का आशय किस प्रकार की व्यवस्था से है। इतना अवश्य है कि इस प्रकार की विचारधारा उनके अकेले के राजनीतिक आग्रह या काव्यगत आग्रह का दृढ़ कथन मात्र नहीं है, जैसा कि अशोक वाजपेयी ने लिखा है, इनमें भारतीय मनुष्य की समकालीन तलाश का, उसकी नई आक्रामकता का, सीधा पर नाटकीय वक्तव्य ही है।[1] राजनैतिक अर्थ में एक जागरूक और क्षुब्ध कवि की यह तलाश कुछ अनुचित नहीं कही जा सकती।

विरोध, विद्रोह और क्रान्ति के स्वर—

साठोत्तरी कवि व्यवस्था के प्रति अपने तेज गुस्से का प्रदर्शन 'अलिया-वेताल' शब्दावली में करता है। उसे एक चिनगारी की प्रतीक्षा है जो ढोंगी व्यवस्था को जलाकर खाक करदे[2] ताकि तमाम दुःख-दैन्य और शोक समाप्त हो जांय। वह अपने निजी प्रयासों से एक बहुत बड़ा परिवर्तन लाने को इच्छुक है[3] लेकिन उसे मालूम है कि उसकी कलम बसूला नहीं हो सकती अर्थात् कविता क्रान्ति के लिये माहौल तो बना सकती है लेकिन खुद क्रान्ति नहीं कर सकती। फिर भी वह कविता रूपी सब्जी काटने का थोथा चाकू लेकर खाली टिनों की लम्बी कतार से जूझता है।[4] सुविधाजीवी होने की

---

१. फिलहाल, पृ० ३४।

२. एक चिनगारी और—
   जो खाक करदे
   दुर्नीत को, ढोंगी व्यवस्था को
   कायर गति को
   मूढ़ मति को
   जो मिटावे दैन्य, शोक, व्याधि
   –गर्म हवाएँ, लोहिया के न रहने पर, —सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, पृ० २६।

३. जो चाहता है एक ठोकर से उड़ादूँ यह पत्थर
   थूक दूँ : उफन जाऐ बँधे सिन्धु सारे
   मुट्ठी में पीसकर ब्रह्माण्ड, गढ़ दूँ एक घर""एक घर
   —आत्म निर्वासन तथा अन्य कविताएँ, रात पहले पहर में, —राजीव सक्सेना, पृ० ४३।

४. आँख हाथ बनते हुए-भी, —ज्ञानेन्द्रपति, पृ० ७।

आकांक्षा उसमें बिल्कुल नहीं है—अन्यथा वह नारे की भाषा पढ़ने से इन्कार न करता।[1] व्यवस्था अपनी ओर से यह दिखाने का प्रयास करती है कि विरोध या विद्रोह कहीं नहीं है लेकिन इस तथा कथित अमन-चैन के नैपथ्य में विद्रोही सक्रिय हैं। उनके हाथों में अपने खून से भरी हुई बाल्टियाँ हैं और संगीनधारी पहरेदारों की आँखें बचाकर वे विद्रोह का एक नया अध्याय लिख रहे हैं।[2] युवा कवि शोषितों और मेहनतकशों से गुलामी को काट देने और शोषण से मुक्त होने का खुला आह्वान करता है।[3] कुछ कवियों की धारणा यह भी है कि देश में क्रान्ति की शुरूआत हो चुकी है। क्रान्ति की आग सारे मुल्क में फैल गई है—

............इस आग से
घर दफ्तर और
कनाट प्लेस की सिम्फनी में रंगीन अन्धकार
सब कुछ जलकर राख हो जायेंगे
इसे

१. नारे यानी कि सुविधा
उसने गोल मुस्कान के साथ कहा
और टोपी माथे पर झुकाली।
मैंने नारे की भाषा
पढ़ने से इन्कार कर दिया।
—विचार कविता की भूमिका, प्रत्यावर्तन, —सुरेश ऋतुपर्ण, पृ० २००-२०१।

२. विचार कविता की भूमिका, भारत १९७२, —वेणुगोपाल, पृ० १३१।

३. काट दो।
आँखों और पाँवों के दरम्यान पल रही गुलामी को
और खोल दो
उन जंजीरों को
जो बेवजह बांधती हैं
तुम्हारे साहस को।
—विचार कविता की भूमिका, कविता में कविता के लिए, —राजकुमार कुंभज, पृ० १३८।

तुम प्रलाप कह सकते हो
लेकिन यह सचाई है।[1]

यहाँ यह प्रश्न उठना वाजिब है कि युवा कवियों का आक्रोश और विद्रोह किस हद तक सार्थक और सच है कहीं ऐसा तो नहीं है कि विद्रोह कविताओं की सतह पर ही तैरकर रह जाता है। यह भी देखने में आता है कि विद्रोही कविताएँ एक जैसी शब्दावली में लिखी गई है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि विद्रोह युवा कविता का एक फैशन या रूढ़ि बनकर रह गया है। डॉ० गोविन्द रजनीश ने विद्रोह और राजनीतिपरक कविताओं को एक दूसरे की नकल लगने के मूल में अभिव्यंजना रूढ़ि को मान्यता दी है। उनके इस कथन से सहमत हुआ जा सकता है कि इस रूढ़ि का प्रमुख कारण कवि के आक्रोश का वैयक्तिक से सामूहिक हो जाना है[2] लेकिन यह निश्चित है कि युवा कविता में छद्म विद्रोह को लेकर लिखी गई कविताओं की संख्या अच्छी-खासी है। बगैर सही राजनीतिक-सामाजिक समझ के सब कुछ तोड़ने-फोड़ने का उग्र वामपंथी दुस्साहस छद्म और अव्यावहारिक विद्रोह की ही सृष्टि कर सकता है। "जो विद्रोह किसी भौतिक शक्ति की नाराजगी का खतरा न उठाये और केवल सांस्कृतिक मर्यादाओं के तोड़ने का नाटक करे, वह विद्रोह हर विडम्बना से अपनी रक्षा करता हुआ अपने नाम की कूटनीति चलाता है और 'समझौतावादी' शैली को 'विद्रोही प्रवृत्ति' की संज्ञा दिलाने का छद्म रखता है।"[3] उत्तेजक भाषा में गर्म बातें कह देना सही विद्रोह नहीं है। कुछ कवितायें इसी प्रकार के विद्रोह का प्रदर्शन करती हैं और इसीलिए कमजोर भी हैं।[4] कवि क्रान्ति और विद्रोह की बातें करते-करते काफी हाउस और

---

१. मृत शिशुओं के लिए प्रार्थना, अरुंधति और गिरीश प्रणव रफीक, प्रणवकुमार वन्द्योपाध्याय, पृ० ५२।

२. अभिव्यक्ति, सं० बालकृष्णराव, —गोविन्द रजनीश, पृ० ६६।

३. मधुमती अंक, आज का रचनाकार, —रामदेव आचार्य, पृ० ६३।

४. इस सारे क्रम का
मैं क्या करूँ?
क्या उल्लुओं को जगह
इस रथ में जोत दूँ।
दो कुत्ते?
क्या बागडोर देदूँ
वेश्याओं के
हाथ में?

रेस्तरां में घुसने की हास्यास्पद स्थिति से भी अवगत है। यह अच्छा है कि अधिकतर युवा कवियों को सही और रचनात्मक विद्रोह की पहचान है और क्रान्ति की दुहाई देने वाले समझौता परस्तों और घुसपैठियों को उन्होंने स्वीकार नहीं किया है—

देखो दोस्त
न तो मुझे छद्म क्रान्ति भाती है
और न विवशता की शान्ति
मैं इन्द्रधनुष के भुलावे में
बाढ़ लाने वाली बरसात की जात पहचानता हूँ
मैं जानता हूँ तुम्हारे कीर्तन का रहस्य
कि गुलाब की माला तुम्हारे गले में हो[1]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सन्दर्भ—

युवा कवि में राष्ट्रीय राजनीति के प्रति सजगता के साथ-साथ विश्व राजनीति के मंच पर घटित होने वाली घटनाओं के प्रति अच्छी-खासी दिलचस्पी भी है। उसने विश्व स्तर पर घटित होने वाले रंग-भेद, साम्राज्यवादी षड्यन्त्रों और राजनीतिक स्वार्थों का खुला विरोध किया है। 'सव्यसाची' की कविता 'राबर्ट कनेडी के वध पर' में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भों की चर्चा है—

हिरोसिमा और नागासाकी का ध्वंस होता है
गेनिको जलता है, स्वेज पर हवाई हमला, लेनिन ग्राड का घेरा
सालाजार की तानाशाही, स्मानस्मिथ का पैशाचिक अट्टहास
दक्षिणी अफ्रीका का रंग-भेद, उत्तरी वियतनाम पर बमवर्षा

\+ \+ \+

और स्पेन के जनयुद्ध में जनतन्त्र के जख्मी शरीर को
फौजी बूटों से रौंदता हुआ तानाशाह फ्रैंको जीत जाता है।[2]

रघुवीर सहाय, मणिमधुकर, ऋतुराज, राजकुमार कुंभज, राजकमल चौधरी, धूमिल आदि कवियों की अनेक कविताएँ विश्व राजनीति से जुड़ी

---

१. विचार कविता की भूमिका, हर आदमी का आकाश, — विनय, पृ० १६७-६८।
२. सुबह होने से पहले, पृ० ७५।

हुई हैं। आम तौर पर इन कविताओं में विश्व पर मंडराते युद्ध की विभीषिका और उसे समाप्त करने में संयुक्त राष्ट्र संघ की असफलता को रेखांकित किया गया है। यदि राजकुमार कुंभज और ऋतुराज की कविताएँ संयुक्त राष्ट्र संघ पर व्यंग्य करती हैं[1] तो मणिमधुकर संयुक्त राष्ट्र संघ पर निर्भर होने की निरर्थकता का बोध कराते हैं—

> संयुक्त राष्ट्र संघ के पास कोई योजना
> को राह नहीं है[2]

युद्ध के प्रति घृणा उभारते हुए युवा कवियों ने उन मुक्ति संग्रामों का समर्थन किया है जो चिली, वियतनाम, कोरिया, बंगला देश आदि में जन-साधारण द्वारा लड़े जा रहे हैं। इस प्रकार के युद्धों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का रक्तपात या युद्ध युवा कवि की दृष्टि में घृणित है। युवा कवि युद्ध को ऐसा जादू मानता है जो व्यक्ति को मन और कर्म दोनों से निष्क्रिय

---

१. (क) यूं तो
आग बुझाने के लिए फायर ब्रिगेड
और समस्याओं के सुलझाने के लिए
पैदा हुआ है
दुनियां में
संयुक्त राष्ट्रसंघ
फिर भी............

—विचार कविता की भूमिका, कविता में कविता के लिए, पृ० १३६।

(ख) ऊ थांट ने अपनी कार को
ब्रेक लगाया है
सारे कमरों से सड़ांध उठ रही है
सारे अमरीका को मितली आ रही है
और महासचिव
अपने कपड़ों पर इत्र छिड़ककर
कागजों पर जरूरी दस्तखत करने में
व्यस्त हो गये हैं

—आवेग-६ १६७२, दिनचर्या, पृ० १२।

२. खण्ड-खण्ड पाखण्ड पर्व, पृ० ४०।

बना देता है ।[1] युद्ध के आतंक को 'बलदेव वंशी' की कविता 'युद्ध-प्रेत' बहुत सहज ढङ्ग से उभारती है । आकाश में एक जहाज के गुजर जाने से बच्चों की हँसी और किलकारी बन्द हो जाने[2] के संकेत से विश्व के हर्ष और उल्लास के युद्ध के मौसम में रीत जाने का उल्लेख इसमें है ।

(ग) युगबोध और यथार्थ बोध—

किसी भी प्रकार के सर्जन के लिए युगीन चेतना का अस्तित्व आवश्यक है 'युग चेतना को छोड़कर समाज को प्रस्तुत करने से दो खतरे सामने आते हैं—एक तो यह कि वह समाज अपने यथार्थ रूप में प्रस्तुत नहीं हो पाता, दूसरे यह कि सर्जक का यह कार्य निर्माण कार्य न होकर नीचे समाज का स्थूल प्रस्तुतीकरण हो जाता है ।[3] साठोत्तरी कवि में युगीन चेतना की समझ भरपूर है ।

१. और युद्ध……ऐसा जादू है
जो तुम्हारे दिमाग में
अन्धकूप सा सो जायेगा
जब तुम होश में लौटोगे
तुम्हारा हाथ
काठ का हो जायेगा
—विचार कविता की भूमिका, युद्धस्तर पर खेत, —गोविन्द उपाध्याय, पृ० ११९ ।

२. अभी थोड़ी देर पहले
यहाँ बच्चे थे
बच्चे
हँसते
किलकते
खुशी में चीखते
आकाश में एक जहाज गुजर गया है
इधर से
उधर
अब ! बच्चे कहीं नहीं दीखते
—उपनगर में वापसी, पृ० ६६ ।

३. आज का हिन्दी साहित्य : संवेदना और दृष्टि, —डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० ११ ।

उसने अपने परिवेश और युग को जिया है और उन्हीं से सम्बद्ध अपने अनुभवों को कविता में ढाला है। वह ऐतिहासिक और राजनीतिक सन्दर्भ में पूरे समाज के दुःख-सुख, हर्ष-विषाद को काव्यात्मक रचाव देने में सफल रहा है। साठोत्तरी कविताओं को देखने से एक बात बड़ी आश्चर्यजनक लगती है कि इनमें जनसाधारण के सुखी क्षणों का उल्लेख न के बराबर है जब कि उसकी तकलीफ के ब्यौरे अनगिनत हैं। ऐसा लगता है जैसे चतुर प्रूफरीडर की तरह साठोत्तरी कवि की दृष्टि गलत चीजों पर ही पड़ती रही हैं। उसे सामाजिक कुरूपताओं, राजनीतिक विसंगतियों और व्यक्तिगत मुश्किलों को उधेड़ना अधिक अच्छा लगता है। जगदीश चतुर्वेदी का यह कथन काफी हद तक सच है कि कविता आज भावुकता की सीमा से हटकर यथार्थ की, बौद्धिकता की सहज अभिव्यक्ति बन गई है।[1] यह यथार्थ एकांगी न होकर बहुमुखी है इसमें यदि समाज की धड़कन है तो व्यक्ति का दुःख-दर्द भी, उसमें यदि राजनीतिक हलचल है तो सामाजिक उथल-पुथल भी। शिक्षा, न्याय, अर्थ आदि जीवन के अनेक क्षेत्रों के यथार्थ चित्र साठोत्तरी कविता में सहज उपलब्ध हैं।

(१) जीवन का बहुमुखी यथार्थ : सामाजिक राजनीतिक आर्थिक परिप्रेक्ष्य—

पिछले सालों में देश को अनेक आन्दोलनों, बन्दों, दल-बदल सरकारों के उत्थान-पतन आदि से गुजरना पड़ा था। युवा कवि ने इस अराजकता को चिन्ता की दृष्टि से देखा है। हड़ताल, जुलूस, अनशन, धरना, घिराव आदि शोषण के विरुद्ध जनता के हथियार हैं लेकिन आज की बदली हुई हवा में इनका उपयोग कुछ निहित स्वार्थों की इच्छानुसार होता है। युवा कवि इस प्रकार के भीड़-भाड़ और हुरदङ्ग का कटु आलोचक है। उसे लगता है कि इतिहास बन्द कमरे में कैद हो गया है और शेष, और एक जुलूस शेष रह गया है—

जो
सड़क पर बिस्तर बिछाकर
हवा पर थूकता है
धूप को गालियाँ देता है
धरती और धरती के बीच

१. प्रारम्भ, नये काव्य की भूमिका।

पनपते हुए वर्तमान को
बेचता है[1]

दो दशक से भी लम्बी स्वाधीनता के बाद भी राजतन्त्र और अमला तन्त्र की मिलीजुली कारगुजारी का दुष्परिणाम यह है कि देश किसी भी क्षेत्र में आत्म-निर्भर नहीं हो सका है। डॉ० शिवप्रसादसिंह ने स्वतन्त्रता के बाद के वर्षों को अगर 'शर्मनाक भिक्षाकाल' कहकर सम्बोधित किया है तो यह अनुचित नहीं है। इस देश में सब कुछ आयात ही होता है और हम सिवाय गाल बजाने के कुछ भी कार्य नहीं करते।[2] अनेक योजनायें बनी हैं, हरित-श्वेत आदि क्रांतियों के दावे किए गये हैं, लेकिन साठोत्तरी कवि को यह सब सच नहीं लगता। उसे लगता है कि देश का वास्तविक नक्शा आयोजनों की फूल-मालाओं से बुरी तरह लद गया है।[3] न्याय, शिक्षा आदि किसी भी क्षेत्र में न तो किसी भी प्रकार का नियम है और न किसी प्रकार की आशा। श्रीकान्त वर्मा ने न्याय के क्षेत्र में औसत आदमी की असहायता[4] और शैक्षिक क्षेत्र में अनुसन्धान की निरर्थकता को बखूबी रेखांकित किया है—

१. उत्कर्ष, सितम्बर १९६७, — विजयबहादुरसिंह।

२. मेरे देश में सब कुछ आता है
बाढ़, भूकम्प, महामारी और शरणार्थी, बाहर से अनाज भी
फिर भी हरबार कोई चीज हमारे हाथ से निकल जाती है
और हम तारीख बढ़ाते हुए
अपने हौसलों की बड़ाई करते हैं
—निषेध, निर्माण, —विनय, पृ० ५९।

३. ……… और हरी
क्रान्ति के लिये हर खेत में टाइप राइटर और
हर मुहल्ले में एस्प्रेसो प्लाण्ट बैठा दिये गये हैं
…एक उठा हुआ हाथ, हर बार यही होता है, -भारतभूषण अग्रवाल, पृ० ७४।

४. न्यायालय बन्द हो चुके हैं— अर्जियाँ हवा में
उड़ रही हैं,
कोई अपील नहीं,
कोई कानून नहीं,
कुहरे में डूब गई हैं प्रत्याशाएँ,
—जलसा घर, प्रजापति, पृ० ७८।

……अनुसंधान करो जाकर किसी
विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में,
साग में नमक, राजनीति में ईमान,
जीने में मजा
नहीं रहा ।[1]

ईमानदारी, नैतिकता, सत्य, प्रेम, परोपकार आदि सद्गुण आज केवल शब्द है । हर एक आदमी गहरे स्वार्थ में डूबा हुआ है । यदि किसी के पास पवित्र भावनायें और आदर्श हैं भी तो वे येनकेन प्रकारेण 'रोटी' का प्रबन्ध करने में रीत गये हैं । लगता है दोनों वक्त की रोटी का प्रबन्ध करना ही आज मानव का ध्येय रह गया है । धूमिल ने इस प्रकार की विसंगतियों को संक्षेप में बड़ी कुशलता से कह दिया है ।[2] बलदेव वंशी की 'सीधी कार्यवाही', कविता में भी स्पष्ट किया गया है कि स्वार्थ की धारा में वक्ष तक डूबे हुए व्यक्ति की ईमानदारी उचक्कों के साथ तट पर खड़ी है ।[3] साठोत्तरी कवियों के युगबोध से लगता है कि सारा परिदृश्य गड़बड़ा गया है । चारों ओर अच्छा खासा अन्धेर है । सौमित्र मोहन की 'महिमा' कविता व्यापक स्तर पर फैले हुए सामाजिक नैतिक भ्रष्टाचार को एक खास ढंग से उभारती है—

१. वही, आध घण्टे की बहस, पृ० १७ ।

२. मैंने अहिंसा को
एक सत्तारूढ़ शब्द का गला काटते हुए देखा
मैंने ईमानदारी को अपनी चोर जेब में
भरते हुए देखा
मैंने विवेक को
चापलूसों के तलवे चाटते हुए देखा……।
—संसद से सड़क तक, पटकथा, पृ० १३१ ।

३. पानी की धार तेज है
तुम वक्ष तक डूबे हो
और तुम्हारी ईमानदारी
अभी काफी दूर तट पर खड़ी है
किन्हीं उच्चकों के साथ
—विचार कविता की भूमिका, पृ० १०७ ।

कालाधन	कालाधन	कालाधन	कालाधन	कालाधन	कालाधन
सफेद झूंठ	सफेद झूंठ	सफेद झूंठ	सफेद झूंठ	सफेद झूंठ	सफेद झूंठ
लाल	लाल	लाल	लाल	लाल	लाल
फीताशाही	फीताशाही	फीताशाही	फीताशाही	फीताशाही	फीताशाही
कागज	कागज	कागज	कागज	कागज	कागज
का शेर	का शेर	का शेर	का शेर	का शेर	का शेर

अंधेर
अंधेर
अंधेर
अंधेर
अंधेर
अंधेर[1]

युवा कवि का युगबोध अनास्था पर आधारित है। यह ठीक है कि देश में सामाजिक-राजनीतिक स्तरों पर अनेक विरूपताएँ हैं। जन-साधारण का जीवन सरल नहीं रह गया है फिर भी उसे 'कुंभीपाक नरक' की संज्ञा देना[2] या राजा दुबे के अनुसार 'हो गया है सारा का सारा राष्ट्र। किसी तवायफ के घर उतरी जूती' कहना घोर अनास्थावादी दृष्टि है और इसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। इस प्रकार के कुछ अतिरंजित स्वरों को छोड़ दिया जाय तो युवा कवि की अनास्था अकारण नहीं है। उसने व्यक्ति के स्तर पर जो भोगा है और समाज के स्तर पर जो देखा है वह उसे क्रुद्ध और

१. निषेध, पृ० ८५।
२. कहने के लिये, महज कहने के लिये या अपने को
धोखे में रखने के लिये हम भले ही कह लें
इस देश को · आर्यावर्त, जम्बूद्वीप रेवाखण्ड,
या— या हिन्दुस्तान, गांधी का भारत,—लेकिन
कुम्भीपाक से भी भयावना है यह
यह मेरा देश।
—साठोत्तरी कविता, पिता स्थिति : एक वक्तव्य, —सुरेश सलिल, पृ० १४।

शंकालु बनाने के लिए पर्याप्त है। निजी स्तर पर उसकी विवशता का आलम यह है कि उसे एक ही वक्त में प्रेमिका को पत्र, साहब को अर्जी, शोक-संदेश और बधाई के तार लिखने पड़ते हैं। जहाँ वह नहीं चाहता वहीं वह रहने के लिए अभिशप्त है।[२] परिस्थितियों की मार ने उसका अमानवीयकरण कर दिया है। पड़ौसी की मौत पर आँसू बहाने की बजाय वह इस बात में ज्यादा इन्ट्रैस्टेड है कि मरे पड़ौसी की जगह पर नयी नियुक्ति कब होगी।[३] इस तमाम विभीषिका और विवशता के पीछे षड़यन्त्र है, युवा कवि का यह सोचना स्वाभाविक है—

प्रजातन्त्र और प्रेम
किसी षड़यन्त्र के
शिकार बन रहे हैं। यहाँ
और वहाँ लोहे के जूते से
दबकर मर रही हैं
संवेदनाएँ[४]

अकविता सम्प्रदाय के कवियों की तुलना में प्रतिबद्ध और प्रगतिशील कहे जाने वाले कवियों का यथार्थबोध बहुत विस्तृत है। मुक्तिबोध, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, राजीव सक्सैना, रमेश गौड़, श्रीकान्त वर्मा, रघुवीर सहाय, चन्द्रकान्त देवताले, मुद्राराक्षस, बलदेव वंशी, परेश, मलयज आदि कवियों ने

१. निषेध, आत्मस्वीकृति, —रमेश गौड़, पृ० ११४।

२. हम जहाँ नहीं चाहते
पैराशूट से उतार दिये जाते हैं
— कैफियत, पैराशूट, —देवेन्द्रकुमार, पृ० २८।

३. पर मैं हूँ
कि दौड़कर लिफ्ट में चढ़
दफ्तर तक जाता हूँ
पता लगाने
कि नई जगह पर नियुक्ति कब होगी।
—शहर अब भी सम्भावना है, निश्शब्द, —अशोक वाजपेयी, पृ० ८४।

४. विचार कविता की भूमिका : कविता में कविता के लिए, —राजकुमार कुम्भज, पृ० १३४।

जीवन-समुद्र की खारी लहरों, खाली सीपियों और मँहगे मोतियों को एकसा देखा है और उन्हें कविता की वस्तु बना दिया है। एक ओर मुक्तिबोध वर्तमान समाज के अप्रासंगिक होने और इससे अवश्यम्भावी मुक्ति की बात करते हैं[1] तो दूसरी ओर धूमिल आज के आदमी की नियति को व्यंग्य के सहारे उभारते हैं —

कि वह चाहे जो है
जैसा है, जहाँ कहीं है
आजकल
कोई आदमी जूते की नाप से
बाहर नहीं है[2]

इसी प्रकार युवा कवियों ने युद्ध की हिंसा,[3] नारियों के साथ अमानवीय व्यवहार[4] आदि समस्याओं को भी उठाया है। इस बृहत्तर यथार्थ के चित्रण के मध्य देश की राजनीतिक, सामाजिक विसंगतियाँ तो

१. वर्तमान समाज में चल नहीं सकता
पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता
स्वातन्त्र्य व्यक्ति का वादी
छल नहीं सकता मुक्ति के मन को
जन को।
— चाँद का मुँह टेढ़ा है : 'अँधेरे में' पृ० २८३-८४।

२ संसद से सड़क तक, —मोचीराम, पृ० ४१।

३. सड़क पर चलता हुआ
सहस्त्रों सूर्यों के प्रकाश की तरह
एक बम के फटने से
—मारा गया मैं
—जलसा घर : युद्ध नायक, —श्रीकान्त वर्मा, पृ० ६८।

४. गरीबी, मूर्खता और नपुंसकता की कीमत
पुरुषों से नहीं औरतों से वसूली जायेगी
विपत्ति जब भी आएगी
केवल लड़कियाँ रौंदी जायेंगी
— निषेध : कविता इसी रास्ते आएगी, -परेश, पृ० १२८-१२९।

प्राय: उभरती हैं[1] ये ठीक है कि कुछ अवास्तविक और अतिरंजित यथार्थ चित्र भी उभरते हैं लेकिन वे युवा कविता की यथार्थ चित्रण की मुख्य धारा में नहीं आते। जूं को मनुष्य से ज्यादा कहना इसी प्रकार की अतिरंजना पूर्ण उक्ति है—

> क्या तुम्हें नहीं लगता कि जूं तक हमसे ज्यादा आजाद हैं
> सुखी हैं
> और दरअसल क्या यह सभ्यता उन्हीं की नहीं है ?[2]

(घ) आम आदमी के दु:ख-दर्द की अभिव्यक्ति—

आम आदमी को लेकर इधर साहित्य में काफी शोर-शराबा रहा। समान्तर कहानी आन्दोलन में 'आम आदमी' की बात बार-बार उठाई गई है। प्रश्न यह उठता है कि यह आम आदमी कौन है ? श्रीकान्त जोशी ने 'आम आदमी' की परिधि में 'मजदूर, छोटा किसान, आफिस का कलम घसीट, कुली, तांगा चालक, अध्यापक से लेकर सिनेमा के एक्स्ट्रा, वैश्या, कम्पोजीटर तथा फुटपाथ और झुग्गी-झोंपड़ियों में रहने वाले लोगों को समेट लिया है।[3] डॉ० विजय शुक्ल का विचार है कि शहरीकरण व शरणार्थी संस्कारों की उपज से ही 'आम आदमी' की उपज होती है।[4] यानी कि वे ग्रामीण सर्वहारा को 'आम आदमी' मानने के पक्ष में नहीं हैं। मार्क्सीय शब्दावली में उसे 'सर्वहारा' कहा गया, जब कि डॉ० वीरेन्द्रसिंह का मत है कि 'आम आदमी' के अन्तर्गत वे सभी व्यक्ति आ जाते हैं जो जीवन और परिस्थितियों की विषमता से जूझ रहे हैं। उनके अनुसार 'आम आदमी' में 'केवल मजदूर और श्रमिक

---

१. ऐश करते हैं वे लोग

……………………………

जिन्हें जेलों में बन्द होना चाहिये

बाकी लोग कैदी हैं

एक बहुत बड़ी जेल में

—जूझते हुए : आह्वान —सुरेन्द्र तिवारी, पृ० ४८।

२.

३. धर्मयुग, २१ दिसम्बर १९७५, पृ० १८।

४. धर्मयुग, ११ जौलाई १९७६, 'रचना धर्मिता का आधार आम आदमी या खास पार्टी, पृ० २७।

ही नहीं, पर किसान, क्लर्क, शिक्षक, मध्यवर्गीय नारी तथा वे सभी व्यक्ति आते हैं, जो शोषण की प्रक्रिया में पिस रहे हैं।'[1] वास्तव में जिस किसी आदमी की आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर है तथा रहन-सहन का स्तर अत्यन्त साधारण है ऐसा निम्नवर्गीय तथा निम्न मध्यमवर्गीय व्यक्ति ही आम आदमी है। इसका अर्थ यह हुआ कि समाज का बहुसंख्यक वर्ग जिसमें कुल जनसंख्या का ६०, ७० प्रतिशत आता है आम आदमी ही है। इसी आम आदमी के दुःख दर्द को उभारने के लिये सक्रिय होकर साठोत्तरी कवि ने कविता को जनसाधारण के निकट की चीज बना दिया है। धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, रामदेव आचार्य, शतीश वर्मा, बल्देव वंशी, रणजीत, श्याम विमल, रघुवीर सहाय, कमलेश, राजीव सक्सेना, प्रणवकुमार बन्द्योपाध्याय आदि कवियों ने 'आम आदमी' को अपनी कविताओं में रूपायित किया है।

आज यह स्वीकार किया गया है कि "रचना का आधार 'आम आदमी' की जिन्दगी की समझ में होता है।"[2] अतः यह आकस्मिक नहीं है कि युवा कवि अपने निजी दुःख-सुख के घेरे से बाहर निकलकर आम आदमी के जीवन को कविता मे उतारने लगा। डॉ० विनय के शब्दों में समकालीन कविता ने सूरज को सामने से हटाकर दीये की तरफ नजर की, इस तरह जिन्दगी का उपेक्षित सामान्य मानव साधारण भाषा में अपनी अभिव्यक्ति पा सका।"[3] 'आम आदमी' कभी इससे पहले इतने व्यापक रूप में कविता के क्षेत्र में कभी स्थान नहीं पा सका। युवा कवि के इस कथन में गर्वोक्ति नहीं है कि वह अपनी कविता की शुरूआत आग से खेलते हुए और पसीने में डूबे हुए काले इन्सान की जिन्दगी से करता है।[4] उसने शब्द या शिल्प के बजाय आदमी को केन्द्र में

१. धर्मयुग ६ जनवरी, १९७७, समकालीन कविता और आम आदमी, पृ० १८।
२. धर्मयुग ११ जुलाई १९'६, —विजय शुक्ल, पृ० २७।
३. आवेग-६, १९७२, घेरे से मुक्त एक तीसरी भाषा की तलाश, पृ० ५०।
४. कोई भी बिम्ब छुपाकर नहीं
रखा था अपने पास
यह वह भी जानते हैं
मेरा एक मात्र शब्द
धुएँ, आग मेहनत, पसीने से
काले पड़े इन्सान से
शुरू होता है
विचार कविता की भूमिका, स्वतन्त्रता-१ —हरिप्रसाद त्यागी, पृ० १८०।

रखकर कविता लिखना शुरू कर दिया है। एक आदमी से दूसरे आदमी में फर्क पैदा करने वाली तमाम चीजों को वह हटा देना चाहता है—

मैं अपनी कविता में शब्द या शिल्प
नहीं—आदमी रखकर सोचता हूँ
आदमी से आदमी तक के बीच
कुर्सियाँ, मेजें—कागज–मशीनें–भाषा
पोस्टर राजनीति और क्रीज वाले कपड़े
हटाना चाहता हूँ[1]

समकालीन कविता का केन्द्रीय चरित्र आम आदमी है इस बात का सबूत अनेक कविताओं में चित्रित पात्रों से मिल जाता है। निराला के 'मंहगू' की परम्परा में 'मंजू हवलदार' (राजकमल चौधरी) 'बिन्नू', 'पांचू', 'रामगुलाम', 'रामभुन', 'रामलाल', 'रामसरन', 'गिरीश' (रघुवीर सहाय) 'मोचीराम', (धूमिल) 'तरक्कीराम' (कुमार विकल) 'लुकमान अली' (सौमित्र मोहन) 'रमुआ' (श्रीराम तिवारी) 'रामेसर' (ज्ञानेन्द्रपति) आदि काव्य नायक धीरोदात्त या उच्चवर्गीय न होकर सामान्य लोग ही हैं। इनकी तकलीफ इनके संघर्ष और इनकी महत्वाकांक्षाएँ युवा कवि को कहीं गहरे छू गई हैं और वह उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए बाध्य हो गया है।

निराला की 'भिक्षुक' और 'वह तोड़ती पत्थर' जैसी कविताओं से आम आदमी के चित्रण की जो परम्परा विकसित हुई वह साठोत्तरी कविता में पर्याप्त विचार ले लेती है। भुट्टा सेकने वाली नारी[2], शरीर बेचने

१. पुनश्च : कविता का आदमी —श्याम विमल, पृ०   से उद्धृत।

२. करौल बाग के फुटपाथ पर
चारकोल की आग में
भुट्टा सेकती रही तुम कितने बरस से
पन्द्रह पैसे में बेचने को ?
—कोई नहीं जानता।
तुम्हारा नाम, उम्र और पता ?
कोई नहीं जानता
—मृत शिशुओं के लिये प्रार्थना, कविता लिखने के लिये, —प्रणबकुमार बंधोपाध्याय, पृ० २४।

वाली युवती[1], फीस न देने पर स्कूल से निकाला गया गरीब बेटा[2] और अभाव की स्थिति में निर्वासित लोग[3] साठोत्तरी कविता में जगह-जगह मिलते हैं। अवसरवादी तत्व केवल चुनाव आदि के मौके पर आम आदमी की खोज खबर लेते हैं लेकिन प्रगतिशील युवा कवि सत्ता की रस्साकसी के अवसर पर जनसाधारण को नहीं भूलता—

जब समाजवादी दल खोज रहा था लड़के
मन्त्री बनने के लिए अगली सरकार में
मैं खोज रहा था भीड़ में रामलाल
वही मिल जाय अगर मंकू न मिले[4]

युवा कवि को मालूम है कि भूख क्या होती है, शोषित जीवन की यातनाएँ उसने झेली हैं, उसे यह भी ज्ञात है कि निर्वसन घूमने में कितनी तकलीफ होती है, उसने करोड़ों देशवासियों की भूख-प्यास के साथ साक्षात्कार

---

१. वह घर है या कोठा, जहाँ एक भोली सी औरत
लेट जाती है साथ में, दो रोटी की खातिर
हर बेटा और बेटी जहाँ किसी पाप की निशानी
—आत्म निर्वासन तथा अन्य कविताएँ, रात पहले पहर में, —राजीव, पृ० ४२।

२. एक दिन वहाँ से निकाल दिया गया कि
पिछले तीन महीनों से
फीस नहीं दे पाया था और
उसके कपड़े गन्दे थे
—मृत शिशुओं के लिये प्रार्थना, सुबह की कविता, – प्रवणकुमार बंधोपाध्याय, पृ० ४५।

३. भूख और प्यास और हाहाकार में
कितनी ही गौरैया आज शहर बदलेंगी
कितने ही लड़के नहीं जायेंगे क्लास
—नाटक जारी है, नगर का मौसम, —लीलाधर जगूड़ी, पृ० ७३।

४. आत्महत्या के विरुद्ध, भीड़ में मंकू और मैं, —रघुवीरसहाय, पृ० ४५।

किया है।[1] उसकी यह तकलीफ बहुत बड़ी है कि इस देश में नव निर्माण की धूम मच चुकी है लेकिन एक साधारण आदमी आज भी उजड़ा हुआ है, बन नहीं पाया है—

सब कुछ बन रहा है मेरे देश में
नर....भवन....सड़कें....योजनाएँ
लेकिन निर्माण की इस दौड़ में नहीं बन पाया अब तक
.......एक अदद आदमी....एक अदद आदमी[2]

(३) भविष्य की उपेक्षा—

युवा कवि न तो अतीत जीवी है और न उसे भविष्य के दिवास्वप्नों में डूबने-उतराने की आदत ही है। हालांकि वर्तमान बहुत भयावह और कुरूप है फिर भी वह वर्तमान में ही जीना चाहता है। वह अपना परिचय वर्तमान से जोड़कर ही देना चाहता है—

मैं जो वर्तमान हूँ
भविष्यहीन अनवरत वर्तमान
अनिश्चय के बहरे क्षणों में
नींव भरकर उठा गयी
दीवार की तरह
ईश्वरहीन हो गया हूँ[3]

१. मैं जो जानता हूँ भूख रोटियों की, नमक और मधु की, मैं जो
जानता हूँ पीड़ा आदमियों के बीच निर्वस्त्र
घूमने की, मैं जानता हूँ करोड़ों की भूख
और प्यास, मैं जो करोड़ों जीवों के साथ काला पड़
डूबता-उतराता हूँ इस सागर में
टटोलता हूँ अंधकार की परतों को
महसूस करते हुए सारे तारे
—पहचान २/४ जरत्कारु, केवल तुम्हारी देह, —कमलेश, पृ० ६।

२. निषेध, निर्माण, —विनय, पृ० ५६।

३. संक्रान्त—एक असमाप्त अन्त —कैलाश वाजपेयी, पृ० २६।

भविष्य उसके लिए झूंठा है,[1] बल्कि वह कभी था ही नहीं।[2] ऐसी स्थिति में अपने उत्तराधिकारी को देने के लिए उसके पास कुछ भी नहीं है। वह अपनी पीढ़ी को झूंठे आश्वासन और खूबसूरत सपने नहीं देना चाहता, क्योंकि उसका वर्तमान इन सबसे महरूम है। इसलिए उसका स्पष्ट कथन है—

तुम्हारे लिए छोड़ जाता हूँ
कुछ अन्धकार के दर्पण
कुछ टूटे हुए शस्त्र
कुछ आहत पगडंडियाँ
कुछ कटे हुए फासले
क्षमा करना मेरे उत्तराधिकारी
मेरे पास
इसके सिवा कुछ नहीं था[3]

किसी प्रकार की भविष्य चिन्ता युवा कविता में नहीं है और यह इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि युवा कविता में अटकलों और सम्भावनाओं के लिए कोई अवकाश नहीं है। वर्तमान की ठोस वास्तविकता इस कविता के केन्द्र में है।

(४) शोषण के प्रति आक्रोश—

राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक शोषण के विभिन्न पहलुओं को पहचानते हुए उनसे मुक्त होने का आग्रह युवा कविता में बार-बार उभरता है।

---

१. और मेरे कण्ठ के सकरे अँधेरे में
झूंठे भविष्य का
कफ घरघराता है
—संक्रान्त : अस्तित्व बोध, —कैलाश बाजपेयी, पृ० ५३।

२. वर्तमान धुंधला होता जा रहा है?
भविष्य कभी नहीं था
अतीत की परिभाषा खो गयी
—तलघर : —प्रमोद सिन्हा, पृ० २१।

३. आजकल, जून १९७०, भविष्य चिन्तन, —विश्वनाथप्रसाद तिवारी, पृ० २७।

आदमी को विवश और गुलाम बनाने की पूँजीवादी और साम्राज्यवादी साजिशों से युवा कवि अनभिज्ञ नहीं है। वक्तव्यों, आश्वासनों और प्रलोभनों के जरिये विरोध की धार को कुण्ठित करने वाले हर प्रयास की असलियत को वह जल्दी ही भाँप लेता है। वह पुरानी पीढ़ी के शोषकों को चेतावनी देना चाहता है कि वे जनसाधारण को भ्रम में रखकर अब और अधिक दिनों तक शोषण का कुचक्र नहीं चला सकते। क्षत-विक्षत कोखों से जन्मी हुई पीढ़ियाँ आज जन्म से पूर्व ही यह जान जाती हैं कि वीणा वादक नहीं, सिर्फ शिकारी बजाते हैं।[1] यह स्थिति केवल पढ़े-लिखे लोगों की ही नहीं है श्रमजीवी भी अब व्यवस्था के झाँसे में नहीं आता।[2] अब अनाचार को पहचानने और अत्याचार के खिलाफ जिहाद बोलने के लिए किसी प्रेरणा की जरूरत नहीं होती है। जुझारू पीढ़ी जीवन के हर मोर्चे पर लड़ने लगी है और व्यवस्था की कोई भी कोशिश उन्हें अपने पद से विलग करने में सफल नहीं हो पा रही है—

> अनाचार के विरुद्ध हमारा प्रत्येक क्षण
> लड़ाई के मैदान में जूझ रहा है
> तुम्हारे स्वर्ण-मृग और लाक्षागृह
> हमारी दृष्टि को धुँधला नहीं कर सकते
> अब हम चक्रव्यूह के पीछे छिपकर बैठे हुए
> चेहरों को देख सकते हैं[3]

१. निषेध— वंशबेल, —रमेश गौड़, पृ० १८५।

२. लेकिन बुधुआ ने अपनी कुदाल से
जमीन पर गहरी चोट की
और बीज का नया धरातल
खेत के बीचों-बीच उग आया
निर्दिष्ट दिशा के कुत्ते भूंके
व्यवस्था ने सफाई के आँकड़े पेश किए
लेकिन इस बार बुधुआ
वक्तव्यों के दायरे से बाहर था
—विचार कविता की भूमिका, वक्तव्यों के दायरे, —वेदनन्दन, पृ० १७७।

३. सुबह होने से पहले, सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर के विरुद्ध, —सव्यसाची, पृ० ५६।

युवा कविता में उन साजिशों का विस्तार से उल्लेख मिलता है जो शोषण के विरुद्ध चल रहे जन युद्ध को ठप्प करने के लिये पैदा की जाती है। चाहे वह अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिये राजनीतिक अवसरवादियों द्वारा छेड़ा गया व्यर्थ का युद्ध[1] हो अथवा शोषण का विरोध करने वालों में फूट डालने की नीति; युवा कवि के सामने सब कुछ आइने की भाँति साफ है। युवा कवि उनकी जबर्दस्त आलोचना करता है जो शोषकों की भेदनीति को न समझकर 'मुखबिर'[2] बन गए हैं और उनका आह्वान करता है जो शोषित हैं लेकिन शोषण और अन्याय के खिलाफ युद्ध में शामिल नहीं हैं। ऐसे लोगों को धूमिल जैसे युवा कवि अपनी आदतों में फूलों की जगह पत्थर भरने तथा मासूमियत के हर तकाजे को ठोकर मारने का परामर्श देते हैं। वे उन्हें आश्वस्त करते हैं कि उन्हें अकेले नहीं लड़ना है उन जैसे लाखों लोग तिलस्म का जादू उतारने के लिए आतुर हैं—

इसलिए उठो और अपने भीतर
सोये हुए जंगल को
आवाज दो
उसे जगाओ और देखो—
कि तुम अकेले नहीं हो
और न किसी के मुहताज हो
लाखों हैं जो तुम्हारे इन्तजार में खड़े हैं[3]

---

१. जब तुम्हारे अनाज के दाने
ईंट पत्थर बन
बाजारियों की इमारत हो जायेंगे
इत्मिनान रखो
तब तक छेड़ दिया जायेगा
कोई युद्ध
और युद्ध.........ऐसा जादू है
जो तुम्हारे दिमाग में
अंध कूप सा खो जायेगा
—विचार कविता की भूमिका, युद्ध स्तर पर खेत, —गोविन्द उपाध्याय, पृ० ११६।

२. शहर, जून १६७२, —निर्भय मल्लिक, पृ०— नहीं है।

३. संसद से सड़क तक, पटकथा, पृ० १२२-२३।

युवा कवि सजे हुए मंचों के नेपथ्यों को फोड़ देने का हामी है अतः शोषण और अन्याय प्रधान व्यवस्था में वह आमूलचूल परिवर्तन चाहता है। यदि इसके लिये रक्तपात या ध्वंस भी करना पड़े तो यह भी उसे स्वीकार है।[1] व्यक्तिगत या छुट-पुट विद्रोह की बात न करके साठोत्तरी कवि द्वारा संगठित विद्रोह पर बल देना इस बात का प्रमाण है कि उसके शोषण विरोध के पीछे भावना या उत्तेजना का उबाल नहीं हैं, ठंडे दिमाग से सोच समझकर की गई तैयारी है। हालांकि साठोत्तरी कविता में शोषण मुक्त समाज का 'यूटोपिया' नहीं मिलता फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसे शोषण की समाप्ति में सन्देह है। शोषण समाप्त होगा, भेदभाव की खाई पटेगी, लेकिन यह भविष्य की बात है, वर्तमान में तो साठोत्तरी कविता की मुख्य चिन्ता मुक्ति बोध के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त है—

समस्या एक
मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
सभी मानव
सुखी सुन्दर व शोषण मुक्त
कब होंगे ?[2]

शोषण विरोध के साथ-साथ साठोत्तरी कवियों में किसी भी प्रकार के वर्ग भेद के प्रति आक्रोश भी मिलता है।

युवा वर्ग की समस्याएँ—

साठोत्तरी कविता सही मायने में युवा कविता है अतः उसमें युवा वर्ग की तकलीफ और परेशानी का जिक्र होना अस्वाभाविक नहीं है। साठोत्तरी कवियों ने युवा समस्याओं के दो विशिष्ट बिन्दुओं को विशेष रूप से रेखांकित किया है। एक तो उन्होंने पर्याप्त शिक्षा और सामर्थ्य के बावजूद बेरोजगारी का अभिशाप झेलती युवा पीढ़ी की मुश्किलों को न केवल समझा है अपितु

---

१. आज ध्वंस के लिए मेरी पूरी स्वीकृति है
उड़ने दो पत्ते और टूटने दो डालियाँ
चरमराने दो तने और उन्मूलित होने दो जड़ें
तमोमयी सत्ता की, व्यवस्था की;
—आंधी और चाँदनी, यह लो मेरे हस्ताक्षर, —तरुण, पृ० २८।

२. चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० ।

उसके लिए जिम्मेदार तत्वों की शिनाख्त भी की है। दूसरा बिन्दु युवा विद्रोह का है जो युवा पीढ़ी की महत्वाकांक्षाओं और स्वप्नों को कुचलने की प्रतिक्रिया में जन्मा है।

स्वतन्त्र भारत में जन्मे हुए युवा वर्ग को स्वतन्त्रता के नाम पर व्यर्थ की भटकन, निराशा और बेकारी हाथ लगी। राजीव सक्सैना, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी और सुरेन्द्र तिवारी की कुछ कविताएँ इस सत्य को अपने-अपने ढङ्ग से कहती हैं। युवा वर्ग को उस राह में चलने की स्वतन्त्रता मिली हुई है जिसके हर छोर पर 'नो वैकेन्सी' के साइन बोर्ड टँगे हुए हैं और शोपिंग विण्डो की चकाचौंध अँगूठा दिखाकर हँसती है।[1] ऐसी स्थिति में उसकी नये चन्दन सी आत्मा घिसते-घिसते मर जाती है।[2] जब कभी युवा शक्ति व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन लाने के लिये कसमसाती है तब अपेक्षित निर्देशन के अभाव में प्रायः गुमराह हो जाती है और उसका अपव्यय रेल के डिब्बे जलाने जैसी निरर्थक हरकतों में होता है। धूमिल ने 'भाषा की रात' कविता में इस सत्य को बखूबी कहा है—

> वे मेरे देश के हमउम्र नौजवान
> जिनकी आँखों में

---

१. ....जिनके हर छोर पर
टँगे हुए हैं 'नो वैकन्सी' के साइन बोर्ड;
साइन बोर्ड, न्योनलाइन, शापिंग विण्डो की
झलमलाती हुई चकाचौंध बुलाती है इशारों से
आँखों में झाँककर हँस देती है अँगूठा दिखाकर।
—आत्म निर्वासन तथा अन्य कविताएँ, राहें चलती रहीं, —राजीव, पृ० ८७।

२. आत्मा थी मेरे भी पास
नये चन्दन सी
घिसते-घिसते अब
आधी से ज्यादा मर गई
दोनों वक्त रोटी का इन्तजाम करने में
आधी से ज्यादा ही
जिन्दगी गुजर गई
—चूमते हुए, आधी से ज्यादा, —सुरेन्द्र तिवारी, पृ० ६१।

रोजगार दफ्तर की
नोंनछही ईंटों का अक्स
झिलमिला रहा है–
वे मेरे दोस्त—
किस तेजी से तोड़ना चाहते हैं भाषा का भ्रम
लेकिन रेल का डिब्बा
टूट रहा है[1]

युवा शक्ति की आग धुंआ बनकर आँखों को चुभने के बजाय लपट बनकर रोशनी और ऊष्मा क्यों नहीं देती, युवा कवि ने इसके मूल कारणों को सतर्कतापूर्वक पहचान लिया है। उसके ख्याल में चारों तरफ चक्कर काटता हुआ पूँजीवादी दिमाग है।[2] जो विद्रोह और समझौते की दो मुँही भाषा एक साथ बोलता है। इसका फल यह होता है कि थोड़ी सी सुविधाओं की लालच के सामने युवा शक्ति कुंठित हो जाती है।[3] भारतीय युवा वर्ग में व्याप्त तीव्र असन्तोष और आक्रोश का जिम्मेदार प्राय: वर्तमान दूषित शिक्षा प्रणाली को ठहराया जाता है।[4] युवा कवि इसके लिए पूँजीवादी शोषण प्रधान व्यवस्था को उत्तरदायी ठहराता है। यह व्यवस्था परिवर्तन नहीं चाहती क्योंकि उससे इसके हितों पर आंच आती है आज की युवा पीढ़ी ने इसकी साजिशों को पहचान लिया है। अत: कभी वह डिग्री फाड़कर अपना आक्रोश व्यक्त करती है और कभी मुट्ठी तानकर नक्सलवादी बन जाती है। डिग्री और प्रमाण-पत्र युवा पीढ़ी के लिये झूंठी तारीख पैदायश की सही तसदीक करने वाले जाली कागज भर हैं—

१. संसद से सड़क तक, पृ० १०२।
२. वही, पृ० १२६।
३. फैसले की हद तक
आते-आते रुक जाती है
क्योंकि हर बार
चन्द टुच्ची सुविधाओं की लालच के सामने
अभियोग की भाषा चुक जाती है,
—संसद से सड़क तक, पृ० १२७।
४. नये साहित्य का तर्कशास्त्र, —विश्वनाथप्रसाद तिवारी, पृ० १३६।

..........तुम्हारे सामने ही
फाड़ फेंकता हूँ तुम्हारे मदरसों से मिले ये कागज
(तुम इन्हें दस्तावेज कहते हो)
इनकी कोई उपयोगिता नहीं है सिवा इसके कि
ये मेरी झूठी तारीख-पैदाइश की सही तसदीक करते हैं
ले जाओ यह कागज की लुगदी
यह मेरी भूख नहीं मिटा सकती[1]

कुछ जागरूक कवियों ने व्यवस्था के प्रति युवा आक्रोश के सार्थक दशा में बढ़ने की बात कही है। युवा कविता में अभिमन्यु का प्रतीक बहुत लोकप्रिय है। अभिमन्यु के माध्यम से औसतन भारतीय युवा के विरोध को उभारा गया है। युवा कवि का विश्वास है कि आज की सड़ी व्यवस्था के चक्रव्यूह को भेदने के लिए अभिमन्यु आकाश से न उतरकर हमारे भीतर से ही जन्मेगा।[2] जो लोग अत्याचार और अनाचार को गूंगे की तरह सह लेते हैं ऐसे लोगों को युवा कवि ने चेतावनी और सन्देश दोनों एक साथ दिए हैं कि युवा वर्ग स्वार्थों के चक्रव्यूह को ध्वंस करने जा रहा है और वह आश्वस्त है कि किसी भी प्रकार की सुख सुविधाएँ उसके विरोध की आग को ठण्डा नहीं कर सकती—

इस युग का अभिमन्यु
तुम्हारी शृङ्खलाओं को तोड़ने के लिए
जिन्दगी को हथेली पर रखकर
स्वार्थों के चक्रव्यूह को ध्वंस करने जा रहा है,
सुख सुविधाओं के फेंके हुए घिनौने टुकड़े
उसकी आग को खरीदकर ठंडा नहीं कर सकते[3]

---

१. शहर, जून १९७२, संवाद : एक तरफा, —हेतु भारद्वाज, पृ० नहीं है।

२. अन्ततः हमीं में से जन्मेंगे अभिमन्यु
जो हर चक्रव्यूह में घुस
सिंह गर्जन करेंगे।
—आनखोल-३, नव०, फर०, मई १९७३, कटघरे में खड़े आदमी का बयान
—राजकुमार कपूर, पृ० ५९।

३. सुबह होने से पहले, अभिमन्यु के हत्यारों का जन्म, —सव्यसाची, पृ० ४२।

युवकों के नपुंसक और दिशाहीन विद्रोह को युवा कवियों ने प्रायः भर्त्सना की दृष्टि से देखा है। इस प्रकार के विद्रोही उनकी दृष्टि में अवसरवादी हैं, विद्रोह उनके लिए फैशन भर है। सामान्य सा आघात या भय ऐसे छद्म विद्रोहियों को दुम दबाने के लिए विवश कर देता है—

सोते विद्रोही की पीठ पर धौल जमाता है सिपाही
—क्या कर रहे हैं श्रीमन् ! यहाँ इस समय खड़े-खड़े
इरादे तो नेक हैं
किसी झंझट में न पड़ूं—इस डर से दुम दबाकर
टरक लेता है विद्रोही देखता हुआ[1]

युवा विद्रोह का एक रूप योग वर्जनाओं के प्रति विद्रोह के रूप में देखा जा सकता है। डॉ० गोविन्द रजनीश के अनुसार साठोत्तरी कविता के एक वर्ग का विद्रोह नारी के पाशविक उपभोग तक सीमित रह गया है। कुछ कवियों विशेषतः अकवियों ने युवा वर्ग की तनावपूर्ण मानसिकता की परिणिति यौन विद्रोह में मानी है। हालांकि हिन्दी में भूखी पीढ़ी जैसी कोई पीढ़ी वास्तव में नहीं थी फिर भी 'बिट्स वर्ग' आदि के प्रभावस्वरूप व्यवस्था के प्रति क्षोभ और असन्तोष का समापन बहुत सी कविताओं में नारी की योनि में ही होता है। केशनीप्रसाद चौरसिया की कविताएँ इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। जहाँ वे व्यवस्था के विरोध की बात करते हैं वहाँ यौन प्रतीकों के बगैर उनकी गाड़ी आगे नहीं बढ़ती।[1] इस प्रकार का आक्रोश धूमिल के शब्दों में कहें तो 'चढ़ी हुई नदी में एक सड़ा हुआ काठ' से अधिक नहीं है। जगदीश चतुर्वेदी, सौमित्र मोहन, मणिकामोहनी, राजकमल चौधरी, निर्भय मल्लिक, श्रीराम शुक्ल आदि ने यौनि के आतंक को युवा वर्ग की एक महत्वपूर्ण समस्या बनाकर पेश किया है। ऐसे कवि बीच-बीच में व्यवस्था के प्रति आक्रोश की एक नकली मुद्रा भी अख्त्यार कर लेते हैं लेकिन उनका नपुंसक आक्रोश छिपता नहीं है और कहीं-कहीं तो आत्मस्वीकारोक्ति के रूप में उभर

१. विचार कविता की भूमिका, विद्रोह का स्वप्न, —हरदयाल, पृ० १८६।
२. क्या सारी व्यवस्था खुर्राट वेश्या के
सिफलिस सड़े अंग विशेष सी गुची-थिथी बजबजा नहीं चुकी।
केशनीप्रसाद चौरसिया।

आता है ।[1] अशोक वाजपेयी ने युवा लेखकों की यौन आक्रामकता का रहस्य उसकी कस्बाई संवेदना और महानगरीय परिवेश की वास्तविकता के बीच के गैप में खोजा है । युवा कवि इस खाई को पहचानकर सामाजिक स्तर पर इस स्थिति को जैसे छुपाने के लिए अपनी रचनाओं में एक असम्भव 'टीन एज' की दुनियाँ बसाता है 'स्त्री यौन-सम्बन्ध, प्रेम आदि को लेकर जो 'जीभ और जांघ का चालू भूगोल' इन रचनाओं में नजर आता है वह शायद सामाजिक स्तर पर अपने पिछड़े होने के अहसास को सम्बन्धों में आक्रामकता और उग्रता द्वारा दुरुस्त करने की कोशिश की ही एक परिणति है ।[2] यह सत्य है कि युवा विद्रोह की उपर्युक्त रोमानी परिणिति के लिए कवियों की मानसिक बनावट अधिक जिम्मेदार है । इनकी ऐसी रचनाएँ समूचे युवा वर्ग की नियति को रेखांकित करने के बजाय आक्रामक मुद्रा में निजी बातें कहने में ज्यादा विश्वास रखती हैं ।

(घ) विचार तत्व की प्रधानता—

साठोत्तरी कविता का मिजाज, मुहावरा और रचना विधान पूर्ववर्ती कविता से इतना बदला हुआ है कि इसे कविता के पुराने और प्रचलित अर्थ में कविता नहीं कहा जा सकता । इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि कविता की 'वस्तु' पूरी तौर पर बदल गई है । पहले जहाँ कविता के केन्द्र में अनुभूति हुआ करती थी वहाँ अब विचार प्रतिष्ठित हो चुका है । विचार की प्रधानता को लक्ष्य करके विचार कविता जैसी अवधारणा प्रस्तुत की गई । विचार कविता की भूमिका प्रस्तुत करते हुए डॉ० नरेन्द्रमोहन ने लिखा था कि 'काव्यानुभव में भावना का योग अब उतना नहीं रहा जितना विचार का । कविता की भावना मूलतः प्रकृति संवेदना को रोमेंटिक भावावेश में बदल देने और ठोस सन्दर्भों को धुंधला देने के कारण अनावश्यक और अप्रासंगिक लगने लगी है और इसी से कविता का भावमूलक आधार भी भोंथरा और अति-

1. एक पहाड़ में छेद करने की इच्छा बहुत बार हुई और
मैंने एक पैने चाकू से अपनी हथेली पर ही वार कर दिया है
+ + +
चिर्नाचिनी औरतों के लिए सुरक्षित, मैं तो अपनी खोल में मस्त हूँ ।
निबंध, समकालीन आलोचकों के नाम, —जगदीश चतुर्वेदी, पृ० ३३ ।
2. फिलहाल, पृ० १५ ।

रंजित लगने लगा है।"[१] यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि विचार को महत्व देने का अर्थ यह नहीं है कि कविता में अनुभव की प्रामाणिकता अब नहीं रही। वास्तव में अनुभव और विचार एक दूसरे में अन्तर्प्रवेश पाकर ही कविता को ताकतवर बना सकते हैं और उसे व्यवस्था या तन्त्र के खिलाफ खड़ा कर सकते हैं।[२] अनुभूति के साथ विचार की महत्ता को रेखांकित करते हुए डॉ० रामदरश मिश्र कहते हैं कि 'जो कवि अपने व्यापक और सघन अनुभवों के साथ वैचारिकता को जितनी कलात्मकता और तनाव के साथ बुन सकेगा वह उतना ही बजनदार कवि होगा क्योंकि वह केवल अनुभवों का संयोजन मात्र नहीं करेगा उनके साथ-साथ जीवन के बुनियादी प्रश्नों और मूल्यों के प्रति हमारी समझदारी और पहचान भी विकसित करेगा।[३] आज की कविता में विचारों पर बल देने के मूल में वर्तमान जीवनगत सन्दर्भों की जटिलता है।[४] इन जटिल सन्दर्भों से प्रेरित और निर्मित होने से काव्यगत संवेदनाएँ भी जटिल हो गई हैं जिन्हें वैचारिकता के परिप्रेक्ष्य में ही देखा, समझा और अभिव्यक्त किया जा सकता है। न केवल विचार कविता अपितु अकविता और प्रतिबद्ध कविता से सम्बन्धित अधिकतर कवियों ने कविता में विचारतत्व को प्रमुखता दी है। पाश्चात्य विद्वान देकार्त ने I think so I am 'अर्थात मैं विचार करता हूँ इसलिए मैं हूँ' कहकर मानव अस्तित्व के लिए विचार को पहिले महत्व दिया है। जब धूमिल लिखते हैं 'एक सही कविता पहले एक सार्थक वक्तव्य होती है' तब उनका आशय किसी भावुक अथवा उत्तेजक वक्तव्य से न होकर विचार पूर्ण वक्तव्य से होता है। युवा कवि ऋतुराज भी अपनी कविता के सन्दर्भ में विचार तत्व को प्रमुखता देते हुए लिखते हैं कि 'मेरे लिये हरेक कविता एक लाइन-ऑफ-थॉट' से पैदा होती है, जो अपनी पूरी बात कहकर एक लाइन-आफ-ऐक्सन को स्पष्ट करती है।"[५]

१. विचार कविता की भूमिका, पृ० ११

२. वही, पृ० १३।

३. मधुमती, दिसम्बर १९७६, कविता में अनुभूति और विचार, पृ० १९।

४. "साम्प्रतिक काव्य के अन्तर्गत अतिशय वैचारिक आग्रह का प्रधान कारण आधुनिक जीवनगत सन्दर्भों की जटिलता है।"
—विचार कविता की भूमिका, —श्यामनारायन, पृ० ८३।

५. आवेग-९, अगस्त १९७२, पृ० ९।

साठोत्तरी कविता का विचार तत्व इतिहास, दर्शन या अन्य किसी क्षेत्र से सम्बन्धित न होकर समसामयिक जीवन से सम्बन्धित है। वर्तमान जीवन की विसंगतियों, जटिलताओं और विद्रूपताओं को उधेड़ते हुए कवियों ने जो कविता गढ़ी है उसमें अनुभव पर आधारित विचार केन्द्र में है। 'विचार की पहली काव्यात्मक शुरूआत व्यंग्य (सेटायर) से हुआ करती है जो धार्मिक तथा दार्शनिक गम्भीरता का मुकाबला करता है।[1] युवा कवि ने समाज के उन वर्गों पर व्यंग्य की कड़ी चोट की है जो न्याय और व्यवस्था के तथाकथित रक्षक हैं। लेकिन स्वयं उनके लिये शासन और न्याय का बन्धन नहीं के बराबर है। धूमिल ने ऐसे दोहरे प्रतिमानों से लैश सुविधाजीवी लोगों को कानून की भाषा बोलने वाला अपराधियों का संयुक्त परिवार कहकर सम्बोधित किया है।[2] कैलाश वाजपेयी ने भी राजनयिक के आत्म-कथन के माध्यम से इसी विडम्बना पर प्रहार किया है—

> गांधी का शिष्य मैं
> कोई अनुशासन, कानून नहीं मानता
> दर असल
> मैं बुरी तरह स्वतन्त्र हूँ।[3]

१. विचार कविता की भूमिका, —रमेशकुंतल मेघ, पृ० ७५।

२. वे वकील हैं
वैज्ञानिक हैं
अध्यापक हैं
नेता हैं
दार्शनिक हैं
लेखक हैं
कवि हैं
कलाकार हैं
यानि कि ....
कानून की भाषा बोलता हुआ
अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है।
—संसद से सड़क तक, पटकथा, पृ० १३६।

३. देहान्त से हटकर, एक नया राष्ट्रगीत, पृ० १३३।

साठोत्तरी कवियों की वैचारिकता मुख्यतः व्यवस्था विरोध से सम्बद्ध है। व्यवस्था विरोध के उत्साह में कभी-कभी उनके विचार अतिरंजित और एकांगी प्रतीत होते हैं। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्था में हो रहे धीमीगति में परिवर्तन को लक्ष्य न करके सभी स्थितियों का मजाक उड़ाना तथा तथाकथित समाजवाद की भर्त्सना करना और मौजूदा लोकतन्त्र की सार्थकता पर प्रश्न चिह्न लगाते चले जाना प्रबुद्ध और सुचिन्तित वैचारिकता के विपरीत पड़ते हैं। बहुत कम कवि विचारों की स्फीति और एकांगिता से बच सके हैं। कविता में जहाँ विचार शुद्ध विचार के रूप में आया है वहाँ कविता, कविता नहीं रह गई है परन्तु जहाँ विचार प्रेरक के रूप में आया है वहाँ उसने जीवन की जटिलताओं को अच्छी तरह से उभारा है। अपने को मार्क्सवादी कहने वाले प्रतिबद्ध कवियों की वैचारिकता भी उत्तेजक और अति-रंजनापूर्ण अधिक है। धूमिल, वेणुगोपाल आदि की कुछ रचनाएँ प्रमाण स्वरूप देखी जा सकती हैं। कुछ कवियों ने विचारों का प्रयोग कविता के प्रस्थान बिन्दु के रूप में किया है जो निश्चय ही एक एकांगी और ह्रासशील प्रवृत्ति है।[1] इस प्रकार की विचार वाली कविताएँ कविता की वस्तु को अनुभवगम्य और सम्प्रेष्य बनाने के स्थान पर अवास्तविक बनाने में सहयोग देती हैं।

परिवेशगत दबाव के कारण जो सामाजिक कुरूपताएँ उपजी हैं, जीवन के विभिन्न सन्दर्भों में अनेक प्रश्न तथा समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं, वे विचार की भूमि पर ही आधारित हैं। साठोत्तरी कवियों ने जीवन से सीधा साक्षात्कार किया है। उनमें परिवेश की पकड़ बहुत गहरी है। अतः उनमें परिवेश की भयावहता के कारण अनुभूति जैसे नैपथ्य में पड़ गई है तथा विचार मंच पर स्थापित हो गया है। युवा कवि की कविताओं को पढ़ने के पश्चात् पाठक रमता कम है विचार अधिक करता है।

(ङ) साठोत्तरी कविता में सौन्दर्य-निरूपण –

सौन्दर्य बोध बदल जाने[2] की बात नई कविता के उत्कर्षकाल में कही गयी थी और इस बदलाव को एक नई शुरूआत से जोड़ने का सिलसिला शुरू

१. विचार कविता की भूमिका, चन्द्रभूषण तिवारी, पृ० ६१।

२. 'कविता का मूल सौन्दर्य उसकी अनुभूतिगत ईमानदारी और अभि-व्यक्तिगत सचाई में है परन्तु मैं मानता हूँ कि कविता एक सामाजिक दायित्व भी होता है।'

प्रक्रिया– कविता : रचना-प्रक्रिया, —रामदरश मिश्र, पृ० ३६४।

हुआ था। उसी समय हिन्दी समीक्षा में साहित्यिक सौन्दर्य बोध के क्षेत्र में वैयक्तिक अनुभूति के विशिष्ट क्षणों और सामाजिक जीवन के विशिष्ट मूल्यों के सन्तुलन[1] पर जोर दिया गया था। नये कवि ने परम्परा भंजन के नाम पर जो सौन्दर्यबोध अपनाया था उसमें उनकी अपनी कुंठाएँ अधिक मुखर थीं। डॉ० गोविन्द रजनीश ने नई कविता के इस नये सौन्दर्यबोध की उचित आलोचना करते हुए लिखा है : 'उनका सौन्दर्यबोध यौनाशय, आमाशय, गर्भाशय, फ्रेंचलैदर, टेस्ट-ट्यूब, मडगार्ड, लिपिस्टिक, बोतल, हींग, हल्दी, चितकबरी रात में ही उलझ गया है। वह वस्तुतः सौन्दर्यबोध न रहकर विकृति बोध हो गया है।'[2] इस विकृतिबोध का विरोध होना स्वाभाविक था। युवा कवि ने कविता के सौन्दर्य को अनुभूतिगत, ईमानदारी और अभिव्यक्तिगत सचाई में मानते हुए उस सौन्दर्य के सामाजिक दायित्व की ओर भी संकेत किया है। 'अगली कविता' के घोषणा-पत्र में भी कविता के माध्यम से शाश्वत सौन्दर्यबोध को मानवबोध से जोड़ने की बात कही गई है।[3]

१. सौन्दर्यानुभूति और सामाजिक दायित्व—

युवा कविता में पहली बार कवि की निजी सौन्दर्यानुभूति को सामाजिक दायित्व के साथ जोड़कर प्रस्तुत किया गया है। इसके पहले खड़ी बोली की कविता में इस प्रकार का सन्तुलन शायद ही कभी रहा हो। छायावाद में निराला को छोड़कर अधिकतर कवियों में इस सौन्दर्य का सूक्ष्म और अतीन्द्रिय निरूपण सामाजिक जवाबदेही की उपेक्षा करता है। प्रगतिवाद में सामाजिक दायित्व का बोध तीव्र और मुखर है लेकिन वहाँ उन्मुक्त और वैविध्यपूर्ण सौन्दर्यानुभूति अनुपस्थित है। प्रयोगवाद और नई कविता जीवन के सौन्दर्य को

१. जिस समाज में हम रहते हैं, उसके द्वारा प्रदत्त अथवा उत्सर्जित भाव-परम्परा तथा मूल्यों से विच्छिन्न होकर, सृजन प्रक्रिया के अंगभूत मूल्यों का अस्तित्व ही नहीं हैं।
—नयी कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबन्ध, मुक्तिबोध, पृ० ५७।
२. समसामयिक हिन्दी कविता-विविध परिदृश्य, पृ० १०४।
३. इसीलिये 'कविता' के माध्यम से शाश्वत सौन्दर्य भाव-बोध को आस्था-बोध के रूप में प्रस्तुत कर 'अगली कविता' के स्वरों का जन्म मानव को मानव-बोध का सन्देश है।
-अगली कविता-१, —ओ० कु० सा०, पृ० ५।

व्यक्तिगत सन्दर्भों में देखते और आँकते हैं लेकिन यह सौन्दर्यानुभूति समाज सापेक्ष नहीं है अतः सौन्दर्य निरूपण की दृष्टि से युवा कवि की कविता अपेक्षाकृत स्वस्थ और सन्तुलित लगती है।

युवा कवियों ने 'जीवन में जहाँ भी सौन्दर्य देखा है वहाँ अभावों और कठिनाइयों की कुरूपता भी पृष्ठभूमि में अंकित हो उठी है।' केवल सौन्दर्य के लिये सौन्दर्य का चित्रण युवा कविता की प्रवृत्ति नहीं है अतः युवा कवि कैक्टस और अमावस्या में भी सौन्दर्य ढूँढ़ लेता है।[1] प्रकृति का सौन्दर्य युवा कवि को बाँधता है लेकिन परिवेश की कटुता उस सौन्दर्य में डूबने नहीं देती। रवीन्द्रनाथ त्यागी की 'शाम को रिज पर से' कविता में फौजी कसाई घर और चमकते चाँद के माध्यम से आज के बदलते सौन्दर्य-बोध की ओर संकेत किया गया है यहाँ फौजी कसाई घर परिवेश का प्रतीक है और चाँद परम्परागत सौन्दर्य का। दोनों को मिलाकर देखना वाकई एक अजीब अनुभव है—

> चौराहे से बच लूं बांई ओर
> वहाँ से फौजी कसाई घर के ऊपर चाँद फिर चमकेगा
> कितना अजीब लगता है
> इन दोनों को देखना एक साथ[2]

इसी तरह का अजीब अनुभव ऋतुराज की 'क्या है' कविता में है। कवि को सूर्यास्त आते हुए बुढ़ापे की तरह बड़ा कष्टप्रद लगता है।[3]

---

१. खुशी के इन्द्रधनुषी रंग
   जब सामने आते हैं
   तो फीके लगते हैं
   कैक्टस
   अमावस्या
   और उपेक्षा
   यही सब लुभाते हैं
   —अगली कविता-१, 'क्रम' —मदन केवलिया, पृ० १०।

२. अकविता-१, पृ० ११।

३. सूर्यास्त तुम्हें सुन्दर लगता है
   लेकिन सूर्यास्त बड़ा कष्टप्रद होता है
   आता हुआ बुढ़ापा।
   —विचार कविता की भूमिका, पृ० १८४।

ऋतुराज के लिए सुन्दरता को आज के भयावह परिवेश के आतंक से अलग रखना सम्भव नहीं है—

> और सुन्दरता को असली आतंक से अलग
>
> रखना। क्या मेरे लिए यह सम्भव है ?
>
> नहीं
>
> क्योंकि अगर ऐसा हुआ तो हर समाचार
>
> युद्धोपरान्त गाये यशगान सा लगेगा[1]

परिवेश के बदल जाने का परिणाम यह हुआ है कि न तो अब सुबह गुलाबी लगती है और न दोपहर चमकदार। हवा धूप आदि भी अपने-अपने परम्परागत सौन्दर्य को छोड़कर जीवन की नंगी वास्तविकताओं से संपृक्त दिखाई देते हैं। दुष्ट सुबह, बीमार दोपहर और खुदगर्ज हवा[2] में अब सुन्दरता न होकर जीवन को विरूप और कुरूप बनाने की चालाकी घुली हुई है। युवा कवि इस बदलते सौन्दर्य बोध को यथा सम्भव वास्तविक रूप में प्रस्तुत कर रहा है। वह देखता है कि परिवेश के इन्द्रधनुषी रंग बड़ी तेजी से गायब होते जा रहे हैं और उनके स्थान पर एक मनहूस कालापन घिरता आ रहा है।[3] यह कालापन व्यक्ति की विवशता है और परिवेश की भयानकता। इस

१. वही, पृ० १८५।

२. सुबह

> उजाला लेकर घर में घुसती है
>
> और कमरों को नंगा
>
> कर लौट जाती है
>
> एक उदास दोपहरी घंटों रोती रहती है बीमार सी
>
> हवा अब सासों को सासों तक
>
> नहीं पहुँचाती
>
> बीच में स्वयं ही उसे पी जाती है।
>
> —विग्रह, विपर्यय, —रामदरश मिश्र, पृ० १६।

३. विचार कविता की भूमिका, 'रैन बसेरा' —बलदेव वंशी, पृ० १०६।

परिवेश की कुरूपता के बीच आत्मीयता का सौन्दर्य भी कभी-कभी उभरता है[१] लेकिन ऐसे अवसर कम ही आते हैं।

२. सौन्दर्य बोध : बदलते प्रतिमान—

कैलाश वाजपेयी की कविताओं के सन्दर्भ में मत्स्येन्द्र शुक्ल ने एक पते की बात कही है कि सौन्दर्य बोध के मटमैले चित्र जो पुराने होने के साथ समापन के नजदीक पहुँच चुके हैं उन्हें ज्यादा समय तक स्वीकारते रहना खतरे से खाली नहीं है।[२] युवा कवि को इस खतरे की पहचान है अतः वह नारी और प्रकृति के आकर्षक चित्रों के एलबम नहीं गढ़ता है। औरतें उसके लिए अन्धाकुप्प उमस भरे खेत[३] से ज्यादा नहीं है और मौसम कभी उसे छिनाल, कभी आवारा और कभी शोहदा[४] लगता है। युवा कवियों की

१. सुबह की भेजी हुई
   गाय पर
   गोधूली में धब्बे लगे मिलते हैं
   हर शाम
   तीन बरस की बच्ची
   (मेरी)
   मुस्कान के गंगाजल से धो देती है उन्हें।
   —अगली कविता-२, 'एक भाव', —कृष्णबिहारी सहल, पृ० ७।

२. हिन्दी-साहित्य, विविध प्रसंग, पृ० १९२।

३. औरतें
   अन्धाकुप्प
   उमस भरा खेत हैं
   आप तैर जाएँ तो जाएँ
   ईश्वर के लिए
   उग नहीं आएँ
   —तीसरा अँधेरा, नियोजन, —कैलाश वाजपेयी, पृ० ६६।

४. एक शोहदा मौसम नोंच ले गया है
   कद्दावर सोच
   —विचार कविता की भूमिका, —राजीव सक्सेना, पृ० १२६।

कुछ कविताएँ ऐसी हैं जिनमें जीवन के आसपास के सौन्दर्य को रंग बोध के जरिए देखा गया है इस प्रकार की अच्छी कविताएँ नयी कविता समर्थ कवि शमशेर बहादुरसिंह ने काफी लिखी हैं। शमशेर का रंगबोध बड़ा सूक्ष्म और सटीक है।[1]

साठोत्तरी कवियों के सौन्दर्य निरूपण के संक्षिप्त विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचना असंगत नहीं है कि उन्होंने सौन्दर्य को स्वतः मूल्य के रूप में स्वीकार नहीं किया है। उनके लिए सौन्दर्य वस्तु का एक गौण और असहत्वपूर्ण अङ्ग है। अनेक समर्थ कविताओं में नारी, प्रकृति आदि की सुन्दरता बिलकुल अनुपस्थित है। वस्तु और भाव के सौन्दर्य के स्थान पर विचारों का सौन्दर्य अधिक है। सौन्दर्य के जो चित्र मिलते हैं उनके साथ सामाजिक प्रतिबद्धता का भाव अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। बिम्ब वादियों की तरह केवल सौन्दर्य के लिए कुछ पंक्तियाँ गढ़ देना युवा कवियों की रुचि के प्रतिकूल पड़ता है। सूक्ष्म वायवीय और अतीन्द्रिय सौन्दर्य चित्रण से प्रायः रहित युवा कविता का सौन्दर्य बोध पूर्ववर्ती नई कविता के सौन्दर्य निरूपण की तुलना में अधिक स्वस्थ, व्यापक और प्रासंगिक है। लोक-जीवन के सौन्दर्य बिम्बों से न केवल साठोत्तरी कविता की जन-जीवन से निकटता प्रमाणित होती है अपितु उनकी ताजे और कुण्ठा विहीन सौन्दर्य के प्रति रुझान की पुष्टि भी होती है।

निष्कर्ष—

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जीवन-मूल्यों का विघटन, वामपंथी राजनीतिक चेतना और विचार तत्व की प्रधानता साठोत्तरी कविता की वस्तु के तीन प्रमुख आयाम है। युवा कवियों ने कुलीनता, जातिगत श्रेष्ठता, परम्परागत आर्थिक शोषण, आस्तिकता, राष्ट्रीयता आदि जीवन-मूल्यों के

१. गेरुई आग
लाल गेहुँई
सुनग
....
बैंगनी खून में आसमान
डोलता हो जैसे
—कविताएँ १९६८, गेरुई आग, पृ० १४०-४१।

विघटन को बड़े उत्साह के साथ चित्रित किया है। नैतिक वर्जनाओं और निषेधों के प्रति भी उनकी काव्य-दृष्टि पर्याप्त आक्रामक है। गलत और अप्रासंगिक मूल्यों के स्थान पर बन्धुत्व सहयोग शोषण का विरोध क्रान्ति आदि मूल्यों को उन्होंने अपना समर्थन दिया है। कुछ अकविता सम्प्रदाय के कवियों ने स्वच्छन्द भोग, अकेलापन और अजनबीपन आदि को मूल्य स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। लेकिन उनका स्वर बड़ा क्षीण है। नये मूल्यों की स्थापना करने में युवा कवि प्रयत्नशील हैं।

राजनीति को कविता की वस्तु में समाहित करने के प्रश्न पर नई कविता के युग में जो द्वन्द्व था वह साठोत्तरी हिन्दी कविता तक आते-आते एक विवादहीन निर्णय की स्थिति में पहुँच लेता है। चाहे प्रगतिशील कवि हैं, चाहे अकवि सभी निर्द्वन्द्व होकर राजनैतिक प्रश्नों को उठाते हैं। साठोत्तरी कविता की राजनीति चेतना वामपंथी की ओर उन्मुख है। अधिकतर कवि यहाँ तक कि अकवि भी वामपंथी राजनीति के प्रति अपना रुझान प्रकट करते हैं। धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, कुमार विकल, सव्यसाची, ज्ञानेन्द्रपति, ऋतुराज, चन्द्रकान्त देवताले आदि कवियों का बहुत बड़ा वर्ग देश-विदेश की समकालीन राजनीति की मीमांसा करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता प्रतीत होता है कि केवल वामपंथ ही राजनीति की सही दशा है और इसी के जरिये पूँजीवादी और साम्राज्यवादी ताकतों के शोषण को दूर किया जा सकता है। युवा कवियों ने गणतांत्रिक व्यवस्था को प्रायः सन्देह की दृष्टि से देखा है। वे इस व्यवस्था की उपलब्धियों से असन्तुष्ट और इसकी न्यूनताओं से चिन्तित प्रतीत होते हैं अतः वे मौजूदा व्यवस्था के स्थान पर समाजवादी शोषणहीन व्यवस्था का विकल्प रखते हैं।

साठोत्तरी कविता की वस्तु विचार प्रधान है। इसमें जीवन के बहुमुखी यथार्थ को बिम्बों, प्रतीकों या फेंटेसी के जरिये न उभारकर प्रायः विचार या रेटारिक के माध्यम से बुना गया है। एक ओर इसमें आदमी के दुःख, दर्द की अभिव्यक्ति है तो दूसरी ओर शोषण और वर्ग भेद के प्रति तीखा आक्रोश। इसकी वस्तु में प्रकृति प्रायः अनुपस्थित है अतः इसका सौन्दर्य-बोध भी मानव जीवन के इर्द-गिर्द ही घूमता है। कुल मिलाकर साठोत्तरी कविता की वस्तु प्रामाणिक अनुभवों और प्रगतिशील जीवन दृष्टि के तालमेल से गढ़ी गई है। यह पूर्ववर्ती कविता की वस्तु के मुकाबले में जीवन के अधिक निकट है और विश्वसनीय है।